

एमएपीएस- 513
(MAPS- 513)

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन
(Western Political Thought)



राजनीति विज्ञान विभाग
(समाज विज्ञान विद्याशाखा)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-513(एम.ए.पी.एस-513)

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

Western Political Thought



समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समिति

<p>प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल</p>	<p>प्रो० मदन मोहन जोशी निदेशक (कार्यवाहक) – समाज विज्ञान विद्या शाखा,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी ,नैनीताल</p>
<p>प्रो०एम.एम सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल</p>	<p>प्रो० दुर्गाकान्त चौधरी राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश</p>
<p>प्रो० सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली</p>	<p>डॉ घनश्याम जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल</p>
<p>डॉ लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल</p>	<p>डॉ आरूशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल</p>
<p>पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन हिमांशु पुनेठा , असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एसी), राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल</p>	

इकाई लेखक

इकाई संख्या

डॉ. दीपक पाण्डे असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान,राजकीय महाविद्यालय, बाजपुर	1,4,5,6
डॉ. अशोक कुमार, पूर्व संविदा शिक्षक राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	2,3,12,
हिमांशु पुनेठा , असिस्टेंट प्रोफेसर , राजनीति विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	7
दिविजय सिंह पथनी , असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	8
डॉ ब्रिजेन्द्र कुमार सिंह असिस्टेंट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान पी.जी. कालेज पट्टी प्रतापगढ़	13,
डॉ अजीत कुमार प्रवक्ता , राजनीति विज्ञान, आर.आर.पी.जी.कालेज अमेठी	9,10,11,14

आई.एस.बी.एन. -----

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2025

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :-----

संस्करण :2025, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिनियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित

प्रतियां

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन –I(MAPS-503) प्रथम सेमेस्टर		
इकाई संख्या	इकाई का नाम	पेज संख्या
1	प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन	1-14
2	प्लेटो (428 ई0 पू0 -347 ई0 पू0)	15-27
3	अरस्तू	28-45
4	अरस्तू के बाद यूनानी चिन्तन एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय	46-55
5	संत अम्ब्रोज, आगस्टाइन एवं ग्रेगरी महान	56-67
6	मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ	68-79
7	टामस एक्विनास	80-97
8	मासीलियो आफ पेडुआ	98-109
9	परिषदीय आन्दोलन	110-120
10	पुनर्जागरण	121-133
11	धर्म सुधार और प्रतिवादात्मक धर्म सुधार	134-151
12	मैकियावेली	152-165
13	जीन बोर्दाँ- (1530-1596)	166-182
14	ग्रोशियस	183-194

इकाई - 1- प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन

इकाई की संरचना

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 यूनानी चिन्तन का महत्व एवं प्रभाव
- 1.4 प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक चिन्तन का पाश्चात्य चिन्तन पर प्रभाव
- 1.5 सोफिस्ट
- 1.6 सुकरात
- 1.7 सिनिक्स एवं साइरेनेइक्स
- 1.8 सारांश
- 1.9 शब्दावली
- 1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.12 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री
- 1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन और विशेष रूप से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, मुख्यतया प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के इर्द-गिर्द घूमती दिखायी देती है और कालांतर के राजनीतिक विकास की दिशा में अपना प्रभाव स्वभाविक रूप से परिलक्षित करती हुई प्रतीत होती है। प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में प्लेटो और अरस्तू निश्चित रूप से सबसे सशक्त हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने समकालीन राजनीतिक विकास तक में अपना प्रभाव छोड़ा है। किन्तु प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन की कल्पना श्रेष्ठ और समृद्ध यूनानी दर्शन के बिना नहीं की जा सकती, जिसमें निरंतर सत्य के सतत अन्वेषण की प्रक्रिया काफी गहरी रही है। इसी परम्परा में प्लेटो से पूर्व भी ऐसे अनेक दार्शनिक रहे हैं, जिसमें प्लेटो के महान गुरु सुकरात भी शामिल हैं; जिसके दार्शनिक आधार के अभाव में संभवतः न तो प्लेटो और न ही अरस्तू का महान दर्शन इस रूप में प्राप्त हो पाता और न ही संभवतः इस रूप में पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का विकास हो पाता। प्रस्तुत इकाई इस दिशा में एक यत्न है कि प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक दर्शन जिसमें मुख्य रूप से सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्मिलित हैं को समझने का प्रयास करते हुए, पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को ज्यादा गहराई से समझा जा सके।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- यूनानी और पाश्चात्य चिंतन के विकास को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।
- प्लेटो से पूर्व के राजनीतिक चिंतन के बारे में समझ विकसित कर सकेंगे।
- प्लेटो(Plato) से पूर्व के राजनीतिक चिंतन के विश्लेषण के पश्चात उनका; प्लेटो और कालांतर के पाश्चात्य चिंतन पर पड़ने वाले प्रभावों को समझ सकेंगे।
- पूर्व के चिंतक सोफिस्ट(Sophist), सुकरात(Socrates), सिनिक्स(Cynics) और साइरेनेइक्स(Cyrenaics) के बारे में जान सकेंगे।

1.3 यूनानी चिंतन का महत्व एवं प्रभाव

नागरिक अधिकार, साम्यवाद जैसे आज के आधुनिक विषय की विवेचना किसी न किसी रूप में पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की अवधारणा को यूनानी चिन्तन के अभाव में समग्र रूप से समझना सम्भव नहीं होगा। यूनानी दर्शन और चिन्तन, पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का आधार है, जिसने विविध आयामों में राजनीतिक दर्शन के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्राचीन पाश्चात्य दर्शन और दार्शनिकों में; सुकरात, प्लेटो और अरस्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; के दर्शन और सिद्धांतों में न्याय, राज्य, शिक्षा, विधि, समता, दिखायी देती है, जो कि यूनानी चिंतन की गहराई को इंगित करता है। यूनानी चिन्तन ने समग्रता में न सिर्फ पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन को दिशा दी है, अपितु सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के बेहतर संचालन, बेहतर समाज और बेहतर व्यक्ति के साथ बेहतर राज्य के विकास के मूलभूत सिद्धान्त दिए हैं जो समकालीन परिस्थितियों में भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

1.4 प्लेटो से पूर्व का राजनीतिक चिन्तन

प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन की रेखा सामान्यतः प्लेटो और अरस्तू से प्रारम्भ और समाप्त मानी जाती है। किन्तु राजनीतिक दर्शन के इतिहास की शुरुआत और पूर्व में होती है, जिसकी प्रेरणा से ही प्लेटो और अरस्तू का महान दर्शन हमें प्राप्त होता है। राज्य के तत्वों और मौलिक विषयों की पहचान और उनकी मीमांसा कर एक सिद्धांत प्रतिपादित करना, राजनीतिक चिन्तन और दर्शन का उद्देश्य रहा है और यूनानी दर्शन में यह मीमांसा सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रतिबिंबित होती है। यद्यपि कि, अन्य चिन्तन धाराओं में भी यह मीमांसा(गंभीर मनन)दिखती है विशेष रूप से भारतीय दर्शन में, जिसके बहुत सारे तत्वों का प्रभाव भी कहीं न कहीं यूनानी चिंतन के विभिन्न बिन्दुओं में बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है तथापि इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि, राजनीति दर्शन में स्वतंत्र बुद्धिवाद जितनी स्पष्टता के साथ यूनानी दर्शन में दिखता है उतना कहीं और नहीं है। यूनानी चिन्तन की सतत प्रक्रिया

जिसकी परम्परा प्लेटो और अरस्तू से पूर्व सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेनेइक्स के रूप में दिखायी देती है कहीं न कहीं प्लेटो और अरस्तू के साथ साथ कालांतर में पाश्चात्य दर्शन को भी प्राभावित और निर्देशित करती रही है। यूनानी राजनैतिक संरचना, व्यक्ति और समाज की धारणा, भौगोलिक स्थिति, नगर-राज्यों का विशिष्ट महत्व और स्वतंत्र बौद्धिक विमर्श यूनानी राजनीतिक चिन्तन की विशिष्ट पहचान रही है। यूनानी चिन्तन की इसी विशिष्टता ने पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के दिग्दर्शक की भूमिका निभायी है। पाश्चात्य चिन्तन धारणा की समग्रता को समझने के लिए प्लेटो के पूर्व के दर्शन को भी गहराई से समझना होगा, जिसकी सतत प्राक्रिया के रूप में आज समस्त राजनैतिक चिन्तन और विमर्श अपने आधुनिक स्वरूप में खड़ा है। प्लेटो के चिन्तन का आधार जहाँ सुकरात का दर्शन रहा है, वहीं सोफिस्ट दर्शन का बिम्ब भी उसमें प्रस्फुटित होता है। यूनान के स्वतंत्र बौद्धिकता और अस्तित्व की संकल्पना जहाँ हीगल के चिन्तन में है वहीं यूरोप ही नहीं अपितु विश्व को प्रभावित और उद्वेलित करने वाला उदारवाद और साम्यवाद का सिद्धांत भी इन्हीं से अपनी प्रेरणा और ऊर्जा प्राप्त करता है। सिनिक्स और साइरेनेइक्स के राज्य विहीन अराजकतावादी(Anarchist) दर्शन, जिसमें बुद्धि और ज्ञान के अस्तित्व को ही परम अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर, अन्य सभी भौतिकतावादी तत्वों को उससे अलग किया और बहुत सारे महान राजनीतिक सिद्धांतों की प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। इस रूप में प्लेटों के पूर्व के राजनैतिक दर्शन को, विशेष रूप से सोफिस्ट, सुकरात, सिनिक्स और साइरेनेइक्स को जानने की कोशिश प्रस्तुत इकाई में की गयी है।

1.5 सोफिस्ट(Sophist)

यूनान के क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन और दर्शन के विकास का श्रेय यद्यपि प्लेटो और अरस्तू को जाता है तथापि इसकी पृष्ठभूमि पूर्ववर्ती चिन्तन विशेष रूप से सोफिस्टों और सुकरात को जाती है। यूनान के स्वतंत्र बुद्धि चेतना ने ज्ञान के समग्र विषय को अपना क्षेत्र माना, जिसको विकसित करने में निश्चित ही सोफिस्टों का विशेष योगदान रहा जिन्होंने एथेन्स में राजनीतिक विचार तथा वाद-विवाद के युग की शुरुआत की। यद्यपि सोफिस्टों से पूर्व भी थैल्स Thales, एनाक्सिमेंडरAnaximander, एनेक्समीनीजAnaximenes, पारमेनिडेसParmenides, ल्यूसिपसLeucippus आदि विचारकों ने यूनानी चिन्तन में अपनी भूमिका निभायी थी। किन्तु सोफिस्ट विचारकों की वैचारिक स्पष्टता, विज्ञान दर्शन और व्याख्यायित करने की क्षमता ने विशेष तौर पर राजनीतिक चिन्तन में एक स्पष्टता स्थापित की। फारस के युद्ध के पश्चात यूनानी परिक्षेत्र और विशेष रूप से एथेन्स में जो स्वतंत्र बुद्धिवादी चेतना और ज्ञान के नवीन अन्वेषण की चेतना जागृत हुई उसको गतिमान करने में सोफिस्ट दार्शनिकों की विशेष भूमिका रही। स्वतंत्र वाद-विवाद, नए राजनीतिक विकल्प और संरचनाओं की पड़ताल, शासन प्रबन्ध के गुण को सीखने के साथ राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने नवीन धनाढ्य वर्ग को इन प्रवृत्तियों की ओर अभिमुख करते हुए, इन प्रवृत्तियों को सीखने और आत्मसात करने की ओर अभिवृत्त किया और यही मांग सोफिस्ट शिक्षकों की मांग और उनकी भूमिका इंगित करती है जो व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव का शिक्षण करते थे। सेबाइन के अनुसार 'सोफिस्ट भ्रमणशील

शिक्षक थे। ये पारिश्रमिक लेकर शिक्षा प्रदान करते थे। इनका जीवन इसी पारिश्रमिक के सहारे चलता था।

राजनीतिक दर्शन के इतिहासकारों के अनुसार सोफिस्ट यूनान के नगर निवासी न होकर विदेशी नागरिक थे, जिनका प्रादुर्भाव यूनान में पांचवी शताब्दी ई0पू0 में दिखाई देता है। सोफिस्टों को यूनान में उस समय मेटिक्स (Metics) कहा जाता था, जिनका कार्य इच्छुक लोगों से धन प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करना था। सोफिस्ट दार्शनिक व्यावहारिक तकनीक और साधन पर बल देते थे, उद्देश्य के स्वरूप से उनका विशेष सरोकार नहीं था। व्यवसाय की दृष्टि से सोफिस्ट यूनान के पहले शिक्षक थे, जिनकी शिक्षा का उद्देश्य राजनीति को व्यावहारिक सहायता प्रदान करना था। सोफिस्ट चिन्तन में किसी एक धारा और दर्शन की अपेक्षा, दर्शन और चिन्तन की विविध धाराएं दिखायी देती हैं जो देश काल और परिस्थिति के अनुरूप व्यावहारिक पक्ष के सिद्धन्त के रूप में विकसित हुई थीं। सोफिस्ट चिन्तन में भाषा से लेकर शरीर क्रिया विज्ञान और नीति से लेकर राजनीति तक का विमर्श दिखता है। कुछ सोफिस्ट चिन्तकों ने जहाँ भाषा की उत्पत्ति को लेकर प्रश्न उठाया, जिसमें उन्होंने उसके मानव-निर्मित और प्रकृतिजन्य होने को लेकर विमर्श किया, वहीं कुछ ने सुखवाद तथा कुछ ने परम्परागत नैतिकता का समर्थन किया। सोफिस्ट, ऐतिहासिक कथाकार भी थे, वहीं सन्देहवादी और शरीर क्रियाविज्ञानी होने के साथ-साथ राजनीतिक प्रबन्धन के मर्मज्ञ थे। कुल मिलाकर सोफिस्ट चिन्तन और दर्शन समस्त विषयों के चिन्तन का एक समूहपूँज था, जिसे आवश्यकतानुसार अलग-अलग सोफिस्ट चिन्ताकों ने व्यावहारिकता के धरातल पर प्रयुक्त किया। सोफिस्ट आधे विचारक, आधे प्रचारक तथा आधे शिक्षक थे, जो नागरिकों को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करते थे और चूँकि व्यावहारिक जीवन का सरोकार मुख्यतया राजनीतिक जीवन से था, अतः सोफिस्ट चिन्तक राजनीति के प्रबन्धक तैयार करते थे, जो राज्य और समाज में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाते थे। **सोफिस्टों के सामान्य लक्षणों का बार्कर से निम्नलिखित रूप में चित्रित किया है:-**

1. सोफिस्टों का कोई एक सम्प्रदाय नहीं था और न ही कोई निश्चित सिद्धान्त।
2. सोफिस्टों की गतिविधियाँ किसी एक विषय तक सीमित न होकर अनेक विषयों तक फैली हुई थी जिनके आचार्य और शिक्षक थे।
3. सोफिस्ट ज्ञान-व्यवसायी थे, परन्तु पेशेवर होने के बावजूद उन्हें वेतन मिलना आवश्यक नहीं था। पाँचवीं शताब्दी के सोफिस्ट जैसे तो वेतन भोगी थे, पर वे अपने वेतन की राशि सीमा के निर्धारण का कार्य बहुधा अपने शिष्यों पर छोड़ दिया करते थे।
4. सोफिस्ट सामान्य रूप से उग्र परिवर्तनवादी भी नहीं थे।
5. सोफिस्टों ने आयोनियन दर्शन Ionian philosophy की निष्फलता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। गार्जियाज Gorgias और प्रोटेगोरस Protagoras इस वर्ग का नेतृत्व करते थे। इन्होंने आवश्यक रूप से मानवीय वस्तुओं के बारे में जाँच पड़ताल करने की कोशिश की। यूनान के समस्त विचारों की भाँति उनका उद्देश्य भी सही उद्देश्यनिष्ठ जीवन जीने में

व्यक्ति की व्यावहारिक सहायता करना था। वे व्यवहारिक बुद्धिमत्ता की शिक्षा देते थे और राज्यों तथा परिवारों के सही प्रबन्ध की कला सिखाने का दावा करते थे।

6. सोफिस्टों में अधिकांश विदेशी नागरिक थे, जो मेटिकों के रूप में एथेन्स में रहा करते थे। वे एथेन्स में इसलिए आए थे क्योंकि, वह उस युग में यूनान का बौद्धिक केन्द्र बन चुका था। एथेन्स की राजनीतिक परिस्थितियों तथा धनिकों के प्रभाव ने इन सोफिस्टों की शिक्षा को विकृत कर दिया था। एथेन्स के धनिक वर्ग को लोकतंत्रात्मक संस्थाओं से कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी। धनाढ्य वर्ग ज्ञान को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए और भाषण कला को लोक न्यायालयों में दोषारोपणों से अपने आपको बचाने में करते थे।

सोफिस्ट सिद्धांत और राजनीतिक विचार

सोफिस्ट का चिन्तन यूनान के राजनैतिक विकास और दर्शन का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। सोफिस्टों द्वारा बहुत सारी प्रचलित मान्यताओं को चुनौती देते हुए नई धारणाओं और परम्पराओं को जन्म दिया गया जो व्यावहारिकता की कसौटी पर उपयुक्त थी और अपने ज्ञान-ग्राहक की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत कर रही थी। सोफिस्ट दर्शन का यूनानी चिन्तन पर बहुत गहरा प्रभाव रहा है, विशेष रूप से ज्ञान के अन्वेषण की द्वंद्वात्मक पद्धति के रूप में; जिसे बिल ड्यूरॉ (Bill Durant) ने बेहतर रूप में चित्रित किया है, 'उन्होंने यूरोप के लिए व्याकरण तथा न्याय-शास्त्र का आविष्कार किया, उन्होंने द्वंद्ववाद (dialectics) का विकास किया, विवाद अथवा बहस के बहुत से रूपों का विश्लेषण किया और लोगों को भ्रमात्मक बातों को पकड़ने और स्वयं उनका प्रयोग करने की कला सिखायी।' तथापि सोफिस्टों के द्वारा किसी व्यवस्थित ज्ञान अथवा विचार धारा का विकास नहीं किया गया। सेबाइन Sabine के अनुसार, उनका अपना कोई दर्शन नहीं था। उन्होंने वह शिक्षा दी जिसके लिए अमीर विद्यार्थी उन्हें पैसा देने के लिए तैयार थे। **सोफिस्ट दर्शन में सुश्रृंखलाबद्ध वैचारिकता के अभाव के बावजूद कुछ सामान्य प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं-**

1. **मानवतावाद (Humanism)**- सोफिस्ट दार्शनिकों, विशेष रूप से गार्जियाज ने भौतिकतावादी दर्शन (Materialistic Philosophy) का खण्डन कर मानवतावाद को बढ़ावा दिया। सभी सोफिस्ट मूलतः मानवतावादी (humanistic) और व्यक्तिवादी (individualistic) गरिमा के हिमायती थे। भौतिकवादी दार्शनिक, प्रकृति के अध्ययन पर बहुत बल देते थे और भौतिक जगत को संचालित करने वाले नियमों की जानकारी कर उनका उपयोग भौतिक जगत के विकास में करने पर बल देते थे (आधुनिक विज्ञान और तकनीक की तरह)। गार्जियाज ने भौतिकवादी दर्शन के अध्ययन को निरर्थक बताते हुए कहा कि, अध्ययन के लिए सर्वोत्तम विषय स्वयं मनुष्य ही है। वस्तुतः सोफिस्ट दर्शन का यह स्वरूप मानवीय नैतिक तत्व के विवेचन को ही प्रासंगिक और उचित मानते हुए इसी पर बल देता है।

2- **संशयवाद(Skepticism)**- सोफिस्टो का दूसरा प्रमुख सिद्धांत सत्य की सापेक्षता(Relativity of Truth) का सिद्धांत है जो सत्य के प्रति संशयवादी दृष्टिकोण के आधार पर, द्वन्दवाद के सिद्धांत का आधार प्रस्तुत करता है। यह मत किसी भी सत्य को अंतिम एवं सार्वभौमिक नहीं मानता बल्कि सत्य को हमेशा परिवर्तनशील और संदर्भित (contextual) मानता है। प्रसिद्ध सोफिस्ट प्रोटागोरस Protagoras ने इसी तथ्य को दूसरे रूप में इस प्रकार प्रकट किया कि, 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड स्वयं है'(Man is the measure of all things)- उन सभी वस्तुओं का जो विद्यमान है तथा जो विद्यमान नहीं है।' सोफिस्टो के इस संशयवाद ने प्रकृति के उस बौद्धिक चरित्र को चुनौती दी जो आरम्भिक यूनानी विचारधारा के आधार थे। इस धारणा ने प्रचलित मान्यता के रूप में राज्य के स्वरूप, स्रोत और उसके संस्थानिक मान्यताओं को गम्भीर चुनौती पेश की। एक राज्य में एक कानून जहां स्वीकार्य है, वहीं दूसरे राज्य में अस्वीकार्य। ऐसे कानून सार्वभौमिक, प्रकृतिक और देवत्व स्वरूप न होकर केवल ऐसे रीति रिवाज हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बनाया है। सोफिस्टों ने नागरिकों को राज्य के कानून और परंपरागत नैतिकता में प्राकृतिक और सार्वदेशिक सत्य की अभिव्यंजना के स्थान पर उन प्रत्यादेशों को खोजना सिखाया अर्थात् किसी विशेष विचार, सत्य या उद्देश्य को व्यक्त करने के लिए सीधे तौर पर उनके अर्थों या संकेतों की बजाय, उनके पीछे छिपे हुए निर्देशों, आदेशों या नियमों को ढूँढने की शिक्षा दी गई। जिसका मूल, व्यक्तियों की स्वार्थपरता थी, जिसके लिए उन्होंने उन संस्थाओं का निर्माण कर कुछ विनियम विकसित किए। इस रूप में सोफिस्ट व्यक्तिवादी भी थे।

3- **कानून और न्याय संबंधी सिद्धांत**- सोफिस्ट, कानून एवं विधियों का जन्म, प्रकृतिजन्य न मानकर, राज्य की सत्ता के स्वरूप में मानते थे, जिसके कारण व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रकृति से कार्य न कर अपनी बुद्धि और चेतना के विरुद्ध, कानून के अनुरूप कार्य करता है। सोफिस्टो का यह दर्शन 'समर्थ को नहीं दोष गुसाई' के सिद्धांत का समर्थन करता हुआ दिखायी देता है। यद्यपि बहुतायत सोफिस्ट इसी धारणा पर अवलम्बित दर्शन का प्रतिपादन करते हैं तथापि अन्य सोफिस्ट चिंतक भी थे जो इससे भिन्न राय रखते थे, इस रूप में निम्न धाराओं में हम कानून और न्याय के संदर्भ में सोफिस्ट चिंतन को समझ सकते हैं।

हिपियास Hippias का मत - इसके अनुसार कानून के दो प्रकार होते हैं - (क) ईश्वरीय अथवा देव निर्मित कानून तथा (ख) मनुष्य निर्मित कानून। ईश्वरीय कानून का स्वरूप सार्वभौमिक, सर्वकालिक और स्वभाविक है वहीं मनुष्य निर्मित कानून राज्य, देशकाल परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं।

एन्टीफोन Antiphon का मत - इसके अनुसार प्रकृति के कानून का स्वरूप यही है कि, व्यक्ति मृत्यु से बचते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन यापन करें। उनका मत था कि, राज्य के कार्य, व्यक्ति के सुखमय और आनंदमय जीवन पर प्रतिबंध लगाते हैं अतः अस्वभाविक और अनावश्यक है।

एन्टीफोन का यह सिद्धांत कहीं न कहीं महान उदारवादी दर्शन (liberalism) की प्रेरणा के रूप में दिखाई देता है।

ग्लूकां Glaucon का मत - ग्लूकां ने कानून को मनुष्यों द्वारा किए गए प्रारम्भिक समझौते का परिणाम मानने के कारण उसे न्यायोचित ठहराया। उनके अनुसार राज-नियमों का जन्म तब हुआ होगा जब व्यक्ति अन्याय सहन करते-करते दुखी हो गए होंगे, परिणामस्वरूप पारस्परिक समझौते के रूप में नियमों कानूनों का निर्माण किया होगा। इस रूप में ग्लूकां का सिद्धांत सामाजिक अनुबंध (Social Contract) के सिद्धांत का पूर्ववर्ती प्रतीत होता है। ग्लूकां के मतानुसार, 'कानून बलवानों की शक्ति से पैदा नहीं हुआ, अपितु निर्बल व्यक्तियों के साथ अन्याय का प्रतिकार करने की कामना से जन्मा है।' "Laws did not arise from the power of the strong, but from the desire of the weak to resist injustice,"

कैलीक्लीज Callicles का मत - इन्होंने सामाजिक अनुबंध का खण्डन करते हुए प्रकृतिक नियमों को उचित बताया। उन्होंने कहा कि, 'कानून और प्रकृति में से प्रकृति बलवती होती है और विषमता प्रकृति का स्वभाविक नियम है।' सेबाइन के अनुसार, कैलीक्लीज का मत था कि, 'प्राकृतिक न्याय सबल व्यक्ति का अधिकार है और कानूनी न्याय केवल एक ऐसी रूकावट है जिसे दुर्बल जनता अपने बचाव के लिए खड़ा करती है।' बर्नेट के अनुसार कैलीक्लीज का सिद्धांत नैतिक शून्यवाद (moral nihilism) नहीं है, अपितु वह कुछ विशेष अवस्थाओं में शक्ति को न्यायोचित मानता है।

थ्रेसीमेकस Thrasymachus का मत - थ्रेसीमेकस के अनुसार, बल ही कानून और न्याय का आधार है और शक्ति ही सब अवस्थाओं में न्यायोचित है। "justice is nothing other than the advantage of the stronger." थ्रेसीमेकस अनुभववादी था, जिसने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह मत प्रकट किया कि, शक्तिशाली द्वारा अपने हितों के अनुरूप व्यवस्था का निर्माण करा दिया जाता है, यहाँ तक कि राज्य के कानून और संरचना भी इन्हीं के हितों का संवर्धन करती है। थ्रेसीमेकस का यह विचार कहीं न कहीं, मार्क्सवादी-साम्यवादी चिंतन (Marxist-communist thought) के केन्द्र में दिखायी देता है।

सोफिस्टों ने अपने बाद के चिन्तकों को एक नया संदर्भ दिया, जिससे राजनीतिक चिन्तन एवं दर्शन के विभिन्न आयामों का विस्तार दिखायी देता है। संभवतः सोफिस्ट चिंतन के प्रभाव के फलस्वरूप ही यूनानी दर्शन भौतिकवादी से मानवतावादी तात्विक चिंतन की ओर अभिमुख हुआ। यद्यपि सुकरात, प्लेटो अथवा अरस्तू जैसे चिंतकों ने सोफिस्ट चिंतन की विभिन्न संदर्भों में आलोचना भी की है, तथापि कई रूपों में सोफिस्ट चिंतन का स्पष्ट प्रभाव उनके दर्शन पर परिलक्षित होता है, मानवतावाद (Humanism) और व्यावहारिक स्वतंत्रतावाद (Pragmatic Individualism) को सर्वाधिक प्रधानता देने के कारण ही सुकरात को सर्वश्रेष्ठ सोफिस्ट कहा जाता है। सोफिस्ट, यूनान के

बौद्धिक क्रांति के सबसे बड़े संवाहक के रूप में दिखायी देते हैं, जब वे तीन प्रमुख प्रश्नों का प्रमुखता से संकेत करते हुए उसके व्यावहारिक समाधान का प्रयास करते हैं-

1. ज्ञान एवं योग्यता के प्रसार का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. विज्ञान का समाज से क्या संबंध होना चाहिए?
3. नवीन विशेषज्ञ वर्ग को विशेष रूप से राजनीतिक प्रबंधन में दक्ष वर्ग को, समाज में क्या स्थान मिलना चाहिए ?

सोफिस्टों ने व्यक्तिवादी अवधारणा पर बल देते हुए एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था की वकालत की, जिसमें व्यक्ति की योग्यता के आधार पर समाज प्रबंधन का दायित्व दिया जाय। किन्तु प्लेटो ने सोफिस्टों के इसी व्यक्तिवादी (या अति व्यक्तिवादी) तत्व की आलोचना करते हुए, यूनान के नगर राज्यों के, विशेष रूप से एथेंस के पतन का कारण माना। तमाम आलोचनाओं के बावजूद सोफिस्टों का यूनानी दर्शन और पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में योगदान को झुठलाया नहीं जा सकता, जिसने अभी तक अस्त-व्यस्त विचारधारा को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करते हुए एक नियोजित विषय-वस्तु के रूप में परिवर्तित किया और उसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। सोफिस्टों का सबसे बड़ा महत्त्व और योगदान, स्वतंत्र बुद्धि-चेतना को बढ़ावा देना रहा, जिसने कालांतर में यूनान और यूरोप को अपने चिंतन और दर्शन से समृद्ध किया। इस श्रृंखला में पहला नाम सुकरात का लिया जा सकता है।

1.6 सुकरात (Socrates)

सोफिस्ट चिंतन की जिन अति व्यक्तिवादी कमियों ने यूनान के नगर-राज्यों और यूनान के ज्ञान- दर्शन को दीमक की तरह खोखला कर दिया था, उसको दूर करने का बीड़ा सर्वकालीन महान दार्शनिक सुकरात ने उठाया, चाहे उन्हें सत्य की खोज के लिए विषपान कर मृत्यु को ही आत्मसात क्यों न करना पड़ा। सुकरात न तो विदेशी नागरिक था, और न ही ज्ञान का व्यापारी था, बल्कि उसके ज्ञान के तत्व की खोज के पीछे, एथेंस और एथेंस की जनता के कल्याण का उद्देश्य निहित था। सुकरात एक महान दार्शनिक, विचारक, शिक्षक और सैनिक था जो दृढ़ चरित्र और नागरिक कर्तव्यों का पालन करता था, किन्तु नागरिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी वह अवैध और अप्रासंगिक आदेशों को मानने के लिए कभी सहमत नहीं हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप उसे विषपान कर अपनी जीवन की आहूति देनी पड़ी। सुकरात का जन्म 469 ई0पू0 एथेन्स में हुआ था और उसका जीवन 399 ई0पू0 तक अपने वैचारिक चेतना और सत्य का निरंतर सतत अन्वेषण करते हुए एथेन्स और यूनान को समर्पित रहा। सुकरात ने एक सिपाही के रूप में भी अपना दायित्व निर्वहन करते हुए डीलिनिया के युद्ध (Battle of Delium) में प्रतिभाग किया था। सुकरात का जीवन और चिंतन एथेन्स और यूनान के बेहतर भविष्य के लिए समर्पित था, जिसमें ज्ञान और सद्गुण प्रभावी रूप में अपनी भूमिका निभाते हों। बार्कर के शब्दों में, 'नागरिक कर्तव्यों का अडिग रूप से पालन और नागरिक विधि की सीमाएं लांघने की दृढ़तापूर्वक अस्वीकृति ये दो ऐसी विशेषताएं हैं जो एक एथेनी

नागरिक के रूप में सुकरात के जीवन में विशेष रूप से दिखाई देती हैं।” सेबाइन के शब्दों में “सुकरात का सारा जीवन राजनैतिक ध्येयों तथा विधियों के अनुसार आचरण करने की एक सजीव कहानी है। उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य, विधिसम्मत आचरण तथा नागरिक कर्तव्यों का अक्षरशः पालन करना था”। सुकरात ने अपने दर्शन के बारे में कुछ नहीं लिखा, अपितु वह एक शिक्षक के रूप में कुछ प्रश्न समाज और विद्यार्थियों के समक्ष रखता था जिसके प्रत्युत्तर में उसमें सत्यता की खोज, उसके असत्यता के अंशों को नकार कर की जाती थी। सुकरात के वैचारिक दर्शन के स्रोत, विशेष रूप से उनके शिष्यों प्लेटो Plato, जेनोफन Xenophon और एरिस्टोफेन Aristophanes द्वारा लिखित साहित्य में प्राप्त होता है। प्लेटो जैसे महान दार्शनिक के समस्त चिंतन का आधार, सुकरात द्वारा कथित कथ्य “सद्गुण ही ज्ञान है” (virtue is knowledge) पर केन्द्रित है, जिसके विवेचन में ही उसके द्वारा समस्त सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया; जिसमें राज्य से लेकर न्याय और शिक्षा से लेकर समाज के विविध विषयों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।

सुकरात सर्वकालिक महान दार्शनिक और विचारक था जिसने ज्ञान के मार्ग से समाज के सद्गुणों को पहचान कर समाज को सत्य की पहचान करने की कला सिखायी। सुकरात को “नगर के देवताओं को न मानने, युवाजन को पथभ्रष्ट करने तथा सामान्य नैतिक मान्यताओं का खण्डन करने” के आरोप में शासक वर्ग द्वारा मृत्युदण्ड देते हुए विषपान कराया गया। सुकरात की सत्य के प्रति अदम्य निष्ठा और निर्भीकता ने उसके वैचारिक दर्शन को उस ऊँचाई पर पहुंचा दिया, जहाँ वह काल-समय से परे हो गया। उसकी विलक्षण तर्कशक्ति और भाषण की अद्भुत कला ने उसे अत्यंत लोकप्रिय बना दिया, विशेष रूप से युवा वर्ग में। सुकरात की विलक्षण प्रतिभा, जिसके द्वारा वह दूसरों को प्रभावित कर लेता था, से प्रभावित होकर उसे अल्प समय के लिए शासक वर्ग द्वारा राज्यपरिषद का सदस्य भी बनाया गया। सुकरात के दर्शन का उद्देश्य अंतिम सत्य की खोज करना था, जिसमें बहुत से राजनीतिक दर्शन के सिद्धांतों का विकास हुआ।

दो ज्ञान का सिद्धांत- सुकरात ने सोफिस्टों की सत्य के सापेक्षता के सिद्धांत का बड़े ही प्रभावी ढंग से खण्डन करते हुए, शाश्वत सत्य की परिकल्पना की। उसने इस विश्वास का प्रतिपादन किया कि, संसार में समस्त वस्तुओं, विचारों, धारणाओं तथा विश्वासों के मूल में एक शाश्वत सत्य निवास करता है, जो कि देशकाल की परिधि से परे और जिसकी मान्यता किसी व्यक्ति की इच्छा अथवा अनिच्छा, बुद्धि या विवके पर निर्भर नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि, इस समस्त ज्ञान को हम अपने इन्द्रिय चेतना से जान सकें। इन्द्रियपरक ज्ञान और वास्तविक ज्ञान भिन्न हो सकते हैं तथा मानव बुद्धि चेतना की सार्थकता इसी में है कि वह वास्तविक तथा अवास्तविक ज्ञान के बीच भेद कर सके। उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान की शुरुआत इस स्वीकारोक्ति से होती है कि हम कुछ नहीं जानते। इस प्रकार का ज्ञान **अपर्याप्त ज्ञान (Aporia)** कहलाता है, जो व्यक्ति को अपनी सोच और समझ की सीमाओं का बोध कराता है। सुकरात का कथन है “मैं केवल एक चीज जानता हूँ, वह यह कि मैं कुछ नहीं जानता” (I know that I know nothing)। अर्थात् जब व्यक्ति अपनी अज्ञानता को स्वीकार करता है, तो वह ज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर चलता है। दूसरा प्रकार सत्य ज्ञान या साक्षात्

ज्ञान (True Knowledge/Sophia) है यह अपरिवर्तनीय, सार्वभौमिक और शाश्वत होता है। सुकरात के अनुसार, यह ज्ञान केवल आत्म-चिंतन और आत्म-ज्ञान के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे जीवन के उद्देश्य और सर्वोत्तम आचरण को समझने में यह ज्ञान ही मदद करता है।

निरपेक्ष शुभ (Objective Good) - सुकरात शाश्वत सत्य की तरह निरपेक्ष शुभ की अवधारणा में भी विश्वास करता है। उसके अनुसार अंतिम शुभ और कल्याण, इन्द्रिय सुख में निहित न हो कर उस निरपेक्ष शुभ में निहित है जो शाश्वत है। इन्द्रिय भोग और सुख परमानन्द नहीं है, अपितु परमानन्द उस शाश्वत शुभ में निहित है जो इन्द्रिय सुख से परे है और निरपेक्ष है तथा मानव व्यवहार को इस निरपेक्ष शाश्वत शुभ के अनुरूप ही अपना आचरण सुनिश्चित करना चाहिए।

सदाचार ही ज्ञान (Virtue is Knowledge) - सुकरात का यह दृढ़ विश्वास था कि, वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णतः सदाचारी बन जाता है और इसके विपरीत अज्ञान समस्त पापों का मूल है। सुकरात के लिए ज्ञान का अर्थ किसी वस्तु को बुद्धि द्वारा जानना मात्र न था, वरन उसे सम्पूर्ण हृदय से अस्तित्व का एक अंग बना लेना था। सतही ज्ञान के आडंबर के बजाय, ऐसा ज्ञान जो सद्गुणों का विकास और विस्तार करते हुए, शाश्वत शुभ के मार्ग पर जीवन प्रशस्त करे, वही शाश्वत ज्ञान है और ज्ञान से ही सद्गुणों का विकास होता है। सदाचार ही ज्ञान का एक मात्र माध्यम है।

अन्तःकरण की पवित्रता purity of the soul
- मानवजीवन में अन्तःकरण की पवित्रता ही ज्ञान और सद्मार्ग की ओर जीवन प्रशस्त करती है। अन्तःकरण की पवित्रता ही सद्गुणों की ओर अभिमुख करती है तथा अज्ञानता के अंधकार से ज्ञान के प्रकाश की तरफ ले जाती है। इस अन्तःकरण की पवित्रता और सद्ज्ञान पर अटूट निष्ठा के कारण ही सुकरात ने मृत्युदण्ड को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया।

मानववाद (Humanism) - सुकरात प्रोटेगोरस के इस कथन का विस्तार करता है कि, 'मनुष्य ही समस्त वस्तुओं का मानदण्ड है'। मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य अपने आपको जानना है, अपने अन्तःकरण को जानकर ही मनुष्य पवित्र और शुभ ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सुकरात ने व्यक्ति और समाज के समन्वय पर बल दिया है। व्यक्ति की सत्य और ज्ञान के प्रति निष्ठा ही उसे समाज में शाश्वत शुभ के मार्ग पर प्रशस्त करती है।

विधि के प्रति निष्ठा- सुकरात ने समाज और व्यक्ति को सदैव सत्य और शाश्वत ज्ञान का मार्ग दिखाया जिससे एक बेहतर व्यक्ति और समाज का निर्माण प्रशस्त हो सके। अपनी इस प्रेरणा के कारण ही सुकरात ने सदैव उन विधियों का आदरपूर्वक सम्मान और पालन किया जो राज्य और समाज के लिए हितकारी होते हुए शाश्वत शुभ की ओर ले जाते हों। सुकरात ने विधियों का सदैव सम्मान करते हुए असत्य तथा अज्ञानता के विरुद्ध सदैव संघर्ष किया। उसकी इस संघर्ष के कारण ही उसे राज्यपरिषद के सदस्य के पद से पदच्युत किया गया तथा विषपान का दण्ड दिया गया, जिसे उसने अपनी विधियों के प्रति निष्ठा के कारण सहर्ष स्वीकार किया।

सुकरात का यह दर्शन जो कालांतर में प्लेटो और अरस्तू के महान दर्शन का आधार बना, ने परोक्ष रूप से राज्य की अपरिहार्यता और पवित्र तथा शाश्वत विधि की महत्ता की ओर इंगित किया। उसने शासन सत्ता को; व्यक्तिगत लाभ और स्वार्थसिद्धि का माध्यम न मानकर, समाज को शाश्वत सत्य और ज्ञान के मार्ग पर ले जाने के सर्वोत्कृष्ट माध्यम के रूप में स्वीकार किया। सुकरात के दर्शन और जीवन का सर्वाधिक स्पष्ट और निकट प्रभाव सिनिक्स और साइरेनेइक्स के दर्शन पर दृष्टिगत होता है।

1.7 सिनिक्स एवं साइरेनेइक्स Cynics & Cyrenaics

सुकरात के जीवन और दर्शन ने यूनानी दर्शन में सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। सिनिक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एन्टीस्थेनीज Antisthenes और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एरिस्तिप्पस Aristippus रहे जो सुकरात के दर्शन और चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित रहे।

यूनानी भाषा में 'सिनिक' शब्द का अर्थ कुत्ता है जो इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स (Diogenes) को इसलिए दिया गया क्योंकि वो सामाजिक रूढ़ियों और नियमों की परवाह नहीं कर उसकी घोर उपेक्षा किया करते थे। इस सम्प्रदाय को मानने वाले विरोधी एवं विद्रोही प्रवृत्ति के थे, जिनके लिए समस्त संस्थाओं, नियमों और व्यवस्था से बढ़कर मानवीयता और मानव मूल्य था। साइरेनेइक्स सम्प्रदाय का प्रवर्तक एरिस्तिप्पस साइरीनी नामक शहर जो कि वर्तमान ट्रिपोली नगर है; का रहने वाल था, जिसके फलस्वरूप इसके समर्थकों को साइरेनेइक्स कहा जाने लगा। सिनिक्स और साइरेनेइक्स दोनों ही सम्प्रदाय सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धांत को केन्द्रीय तत्व के रूप में स्वीकार करते थे। उनके लिए आत्म ज्ञान और उससे उत्पन्न चेतना ही समस्त प्रकृति को चलायमान बनाए हुए है जो निरन्तर अपनी वैचारिक और ज्ञान परिमार्जन करते हुए आगे बढ़ रही है जिसे किसी संस्था, नियम अथवा व्यवस्था के पास में बांधना समीचीन नहीं होगा। ये वैचारिक सम्प्रदाय उग्र व्यक्तिवादी थे, जिनके लिए संस्था उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितना कि व्यक्ति। इस वैचारिक सम्प्रदाय के लोग राज्यसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं की पहचान एक 'वैश्विक नागरिक' के रूप में करते थे, उनका मानना था कि इस वैश्विक जगत में जो कुछ भी प्रकृतिजन्य है, उस पर विश्व के सभी नागरिकों का बराबर अधिकार है और इस रूप में सभी व्यक्ति एकसमान हैं। सिनिक्स और साइरेनेइक्स इसी कारण से परिवार और सम्पत्ति की धारणा के भी विरोधी थे, जिसको कालांतर में प्लेटो के चिन्तन में भी, परिवार और सम्पत्ति के साम्यवाद (communal ownership of family and property) के रूप में सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। सिनिक्स और साइरेनेइक्स इन बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानते थे और इसलिए इन संरचनाओं के उन्मूलन के पक्षधर थे। सिनिक्स और साइरेनेइक्स संभवतः राज्य द्वारा सुकरात के साथ किए गए अन्याय और अत्याचार से व्यथित और आक्रोशित थे जिसमें सुकरात के ज्ञान मार्ग की उपेक्षा ही नहीं की गयी अपितु मृत्युदण्ड द्वारा उसे दमित करने का यत्न भी किया गया। संभवतः इन्हीं कारणों से राज्य के साथ साथ, उन्होंने उन समस्त संस्थाओं का विरोध किया जिसको वे आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक

के रूप में स्वीकार करते थे। उनके अनुसार सद्गुण और ज्ञान, दोनों ही आंतरिक स्थितियां हैं, जिनको प्राप्त करना ही व्यक्ति के जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। सिनिक्स सम्प्रदाय का प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स कहा करता था कि, मुझे एन्टीस्थेन्स ने शिक्षा दी है कि, 'इस विशाल संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है- और वह है मेरे अपने विचारों का स्वतंत्र चिंतन।' सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन के प्रमुख चिंतन को निम्न बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है-

1. सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय ने समानता और विश्व बन्धुत्व की वकालत करते हुए **विश्व-नागरिकता** (Cosmopolitanism) का विचार प्रतिपादित किया। मानवतावादी समानता और विश्व-बंधुत्व के विचारों ने कालांतर में इसाई धर्म और चर्च पर अत्यधिक प्रभाव डाला।
2. सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन प्रकृतिवादी दर्शन है, जो प्राकृतिक समानता के साथ-साथ प्रकृति के अनुरूप और प्रकृति के साथ जीने की वकालत करता है न कि प्रकृति के ऊपर आधिपत्य की। सिनिक्स दर्शन का नारा था "प्रकृति की ओर लौटो" (return to nature), जो कालांतर में रूसो के दर्शन में भी प्रतिबिम्बित है।
3. इस विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति है, इस रूप में यह विचारधारा उदारवादी चिंतन की पूर्ववर्ती विचारधारा के रूप में दिखायी देती है।
4. इस विचारधारा में राज्य, समाज, परिवार जैसी संस्थाओं के विरोध के कारण, यह अराजकतावादी भी हो जाता है जिसके केन्द्र में व्यक्ति है।
5. सिनिक विचार, विश्व-न्याय *universal justice* एवं विश्व-राज्य *world-state* में विश्वास करता था, जिसमें राज्य की सीमाओं से परे वैश्विक नागरिक के रूप में व्यक्ति एक समान रूप से अपने प्रकृतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए आत्मज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ सके।
6. साइरेनेइक्स विचारदर्शन के अनुसार व्यक्ति के उद्धार के लिए आत्मज्ञान (attainment of self-knowledge) ही एकमेव मार्ग है। आत्मज्ञान का बौद्धिक आनन्द ही परम आनन्द है, शेष समस्त कृत्रिम चीजें दुखों का कारण हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. नगर राज्यों की व्यवस्था कहाँ कि विशेषता है ?
2. मेटिक्स किसे कहा जाता था ?
3. किस यूनानी विचारक के अनुसार, 'बल ही कानून और न्याय का आधार' है?
4. किस विचारक ने सद्गुण को ज्ञान माना है?
5. किस विचार सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता प्रतिपादित की ?

1.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम प्लेटो के पूर्व के दार्शनिक चिंतन को समग्र रूप में समझ पाते हैं जिसने कालांतर में समस्त पाश्चात्य दर्शन की आधारशिला रखी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात सोफिस्ट से लेकर सुकरात और सिनिक्स से लेकर साइरेनेइक्स तक के विचार सम्प्रदाय के विचारों को समझने में सहायता मिलती है जिसमें मानवतावाद से लेकर व्यक्तिवाद और विश्व-नागरिकता से लेकर समतावाद तक के विचारों की प्रेरणा समाहित है।

1.9 शब्दावली

मेटिक्स- सोफिस्टों को यूनान में उस समय 'मेटिक्स' कहा जाता था, जिनका कार्य इच्छुक लोगों से धन प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करना था।

मानवतावाद- मानवतावाद का चिंतन मनुष्य का केन्द्र में रखते हुए समस्त विचारों का प्रतिपादन करता है।

संशयवाद(Skepticism)- जिस विचारधारा में जब किसी भी विचार को तब तक संशय की दृष्टि से देखा जाय जब तक अंतिम सत्य की परिणित तक न पहुंच जाय, इस विचारधारा को संशयवाद के रूप में जानते हैं।

आत्म ज्ञान- ज्ञान की वो पद्धति जो स्वयं की चेतना की खोज करते हुए सद्गुणों का विकास करती है, आत्म ज्ञान कहलाती है।

विश्व-नागरिक- व्यक्ति को किसी राज्य की सीमा में न बांधते हुए सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था के नागरिक के रूप में स्वीकार किया जाय।

प्रकृतिवाद- जो चिंतन कृत्रिम संस्थाओं और व्यवस्था से ज्यादा प्रकृति के अनुरूप विकास और चिंतन पर बल देता है, उसे प्रकृतिवाद के रूप में जाना जाता है।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नगर राज्य यूनान की विशेषता है।
2. सोफिस्टों को मेटिक्स कहा जाता था।
3. थ्रेसीमेक्स के अनुसार बल ही कानून और न्याय का आधार है।
4. सुकरात के अनुसार सद्गुण ही ज्ञान हैं।
5. सिनिक्स और साइरेनेइक्स सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया।

1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्थूम-1, जे0 पी0 सूद

1.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

-
1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
 2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर
-

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन पर सोफिस्ट दर्शन के प्रभाव की विवेचना किजिए?
2. सुकरात ने सोफिस्ट दर्शन के खोखलेपन को दूर कर, समृद्ध यूनानी दर्शन की आधारशिला रखी। इस कथन की विवेचना करें।
3. सिनिक्स और साइरेनेइक्स दर्शन की प्रमुख विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए, समालोचना करें।

इकाई 2 : प्लेटो (428 ई० पू० -347 ई० पू०)

इकाई की संरचना

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त
- 2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त
- 2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद
- 2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरूप
- 2.7 शासन एक कला है
- 2.8 दॅ लॉज- प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य
- 2.9 सारांश
- 2.10 शब्दावली
- 2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई 1 में हमने यूनानी राजनीतिक चिंतन की विशेषताओं का अध्ययन किया जिसमें उसके विविध पक्षों का अध्ययन किया है जिसमें यह भी जानने में सहायता मिली कि किस प्रकार से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनान से माना जाता है। सामाजिक व राजनीतिक उथल-पुथल को राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए अपरिहार्य माना जाता है। यूनानी नगर राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने निश्चित रूप से प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों को जन्म दिया। यूनान के लोगों में जिज्ञासा वृत्ति व विवेक की प्रधानता थी। इसलिए वह प्रत्येक चीज के बारे में जानने का प्रयास करते थे और तर्क-वितर्क व वाद-विवाद के माध्यम से सदैव अच्छा करने का प्रयास करते थे। उनका मानना था कि तर्क वह कसौटी है जो सत्य का अनुसंधान करने में महत्वपूर्ण सहयोग करता है। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद के बिना किया गया कोई भी कार्य या संस्था समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा इस बात की भी निश्चितता नहीं होगी। यूनानी नगर राज्यों के शासन की विविधता ने उन्हें तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया। जिससे इस बात का पता लगाया जा सकता था कि कौन शासन प्रणाली सर्वोत्तम है।

इसी क्रम में हम इस इकाई 2 में यूनानी राजनीतिक चिंतन के प्रारंभिक विचारकों में अति महत्वपूर्ण प्लेटो के विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमें उन्होंने अपने समय के अनुकूल जिस सामाजिक

राजनीतिक ढाँचे की रूपरेखा प्रस्तुत की है उसका भी अध्ययन करेंगे | इस अध्ययन से हमें इसके आगे के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों को समझने की दृष्टि भी प्राप्त होगी |

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम -----

1. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |
2. प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |
3. प्लेटो के साम्यवादी सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |
4. प्लेटो के आदर्श राज्य को जान सकेंगे |

2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके दर्शन की आधारशिला है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुकूल अपने कार्यों को कुशलता एवं सन्तोष भावना से करें, प्लेटो इसे न्याय की संज्ञा देते हैं। आज हम न्याय को जिस कानूनी परिप्रेक्ष्य में देखते अथवा मानते हैं, प्लेटो का मत इससे भिन्न था। आज हम लोग न्याय का अर्थ कानूनों द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकार, कानूनों द्वारा नागरिकों के वाहय सम्बन्धों का निर्धारण अथवा न्यायलयों द्वारा नागरिकों के ऐसे अधिकारों की रक्षा करने से लगाते हैं। विद्वानों का मत है कि न्याय एक समन्वयकारी सिद्धान्त है जो कि स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के आदर्शों के बीच नागरिकों के हितार्थ समन्वय स्थापित करता है। किन्तु प्लेटो की न्याय की धारणा इससे अलग है प्लेटो जिसे हम नैतिकता कहते हैं, को सच्चा न्याय मानते हैं। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है विधि का सिद्धान्त नहीं।

प्लेटो राज्य के विकास का वर्णन करते हुए उसमें “आर्थिक तत्व, सैनिक तत्व तथा दार्शनिक तत्व” तीन प्रकार के तत्वों का वर्णन करता है, और इसी के आधार पर राज्य में तीनों वर्गों के विकास का वर्णन करता है। समाज के विकास क्रम में उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल तीन वर्गों की उत्पत्ति होती है।

ये तीन वर्ग हैं **उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग एवं शासक वर्ग**। प्लेटो कहता है कि उत्पादक वर्ग आर्थिक तत्व का, सैनिक वर्ग साहस वर्ग का, शासक वर्ग दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में राज्य के ये तीनों वर्ग मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित क्षुधा, साहस तथा ज्ञान के सूक्ष्म तत्वों के विशद रूप हैं। प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा के तीन प्रधान तत्व क्षुधा, साहस तथा विवेक माने जाते हैं। मनुष्य के विराट रूप राज्य में भी ये तीन तत्व पाये जाते हैं। राज्य में क्षुधातत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग है, जिसका एक मात्र कार्य समाज के लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। राज्य में साहस तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला सैनिक वर्ग है जिसका एक मात्र कार्य राज्य की रक्षा करना है। राज्य में विवेक अथवा दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व शासक वर्ग करता है। दार्शनिक वर्ग का कार्य राज्य का समुचित शासन करना है।

प्लेटो मनुष्य की आत्मा के तीन गुणों की विस्तृत व्याख्या करता है तथा इनका राज्य के तीन वर्गों के साथ सम्बन्ध की बात करता है। आत्मा के तीन तत्वों तथा राज्य के तीन तत्वों में अन्तः सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यक्ति व्यक्ति की आत्मा में पाये जाने वाले तत्व	राज्य (व्यक्ति का विराट रूप) राज्य में पाये जाने वाले तीन वर्ग
1.क्षुधा/ वासना	1.उत्पादक वर्ग
2.साहस	2.सैनिक वर्ग/सहायक अभिभावक वर्ग
3.शासक वर्ग	3.विवेक

मनुष्य की आत्मा के तीन तत्वों का निरूपण कर प्लेटो इन तत्वों का सम्बन्ध समाज में पाये जाने वाले तीन तत्वों और उनका प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों के साथ जोड़ता है। इस धारणा में प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त निहित है। प्लेटो के अनुसार न्याय के दो पक्ष होते हैं एक व्यक्तिगत न्याय दूसरा सामाजिक न्याय। जब मनुष्य की आत्मा के तीन तत्व अपने निर्धारित कर्मों को करते हैं और इस क्रम में जब क्षुधा(वासना) पर साहस और विवेक का नियन्त्रण हो तथा जब साहस विवेक के निर्देशन में कार्य करे व्यक्ति के लिए यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार व्यक्तिगत न्याय वह है जब व्यक्ति की वासना पर साहस और विवेक का तथा साहस पर विवेक का अनुशासन हो। और सामाजिक न्याय वह है जब समाज के तीनों वर्ग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करें जब कृषक उत्पादन का कार्य करें, सैनिक देश की रक्षा करें और दार्शनिक शासक के आदेशों का पालन करें और जब दार्शनिक शासक शासन का संचालन करे, और शासक वर्ग की सर्वोच्चता अन्य वर्गों पर रहे, प्लेटो की मान्यतानुसार यही सामाजिक न्याय है।

प्रत्येक वर्ग का सम्पूर्ण दक्षता से अपने निश्चित कर्तव्य को करना तथा दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही प्लेटो की परिभाषा में सामाजिक न्याय है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में क्षुधा तथा साहस का संचालन विवेक तत्व से करना न्याय है, उसी प्रकार क्योंकि राज्य अन्ततोगत्वा मन की ही उपज है, राज्य में यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वर्ग द्वारा अपने सुनिश्चित कार्यों को कुशलतापूर्वक करना ही सामाजिक न्याय है।

न्याय का वास्तविक रूप

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर प्लेटो की न्याय की धारणा के वास्तविक स्वरूप को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य को जन्म से ही कुछ योग्यतायें प्रकृति द्वारा प्राप्त होती है। अतः व्यक्ति को केवल उसी योग्यता के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

- समाज के प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग द्वारा अपने निश्चित कर्मों की कुशलता से करना ही न्याय है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति के अधिकारों पर नहीं कर्तव्यों पर बल दिया गया है।
2. प्लेटो के अनुसार न्याय वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है। अतः प्लेटो का न्याय सामाजिक शुभ की प्राप्ति का, नैतिकता का मार्ग है।
 3. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में श्रम विभाजन, अहस्तक्षेप तथा कार्यों की विशेषज्ञता के तत्व निहित हैं।
 4. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सामाजिक एकता पर बल देता है। एथेन्स राज्य के विभिन्न बंटे हुए वर्गों में एकता और सामाजिक समरसता स्थापित करना प्लेटो का लक्ष्य था जिसकी पूर्ति का साधन न्याय है।
 5. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम विवेक की सर्वोपरिता है। इस सिद्धान्त के पीछे सुकरात से प्राप्त प्लेटो की यह मान्यता है कि **ज्ञान ही सदगुण है** दार्शनिक शासक ज्ञान की प्रतिमूर्ति है अतः राज्य में दार्शनिक शासक के विवेक का शासन होना चाहिए।

न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का अध्ययन करने से उसकी कुछ दुर्बलताएँ भी प्रकट होती हैं जो इस प्रकार हैं-

1. प्लेटो की न्याय की धारणा अत्याधिक निष्क्रिय है किसी प्रकृतिक गुण की क्षमता के नाम पर व्यक्ति को जीवन पर्यन्त निश्चित स्थान पर अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाँध दिया जाता है। उस निश्चित स्थान से आगे बढ़ने अथवा ऊपर उठने की इस व्यवस्था में कोई गुंजाइश नहीं है।
2. व्यक्तियों की इच्छाओं के संघर्ष अथवा टकरावों का समाधान करने की न्याय सिद्धान्त में कोई व्यवस्था नहीं है।
3. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त विधि और नैतिकता के बीच की विभाजक रेखा को धूमिल कर देता है। प्लेटो के न्याय के नाम पर नैतिक कर्तव्यों को तथा कानूनी दायित्वों को एक ही मान लिया है।
4. प्लेटो व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सामाजिक एकता के लक्ष्य की प्राप्ति के नाम पर अत्यधिक एकीकरण व्यवस्था की बात करता है।

पॉपर नामक सिद्धान्त, प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में सर्वसत्तावादी समाज के बीज दूँढता है। वह कहता है कि प्लेटो के समाज में विवेक के नाम पर एक वर्ग विशेष का शासन थोपा जाता है। पॉपर के अनुसार प्लेटो की न्याय की परिभाषा के पीछे आधारभूत स्तर पर एक सर्वसत्तावादी वर्ग के शासन की मांग है। प्लेटो का समाज तीन वर्गों की असमानताओं पर टिका हुआ है जिसमें समानता का कोई स्थान नहीं है। लेकिन अन्त में बार्कर का मत है कि प्लेटो का राजनीतिक सिद्धान्त इस नैतिक सावयव का सिद्धान्त है और उसका न्याय सिद्धान्त ऐसी नैतिकता की संहिता है। जिसके द्वारा वह समाज में जीता है।

2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

दार्शनिक द्वारा राज्य का शासन व्यापक शिक्षा के जरिए ही संभव था और यह समझा गया कि सही शिक्षा के जरिए ही यह सफल हो सकता है। प्लेटो शिक्षा को नैतिक सुधार के जरिए मानव को बदलने का हथियार समझते थे। शिक्षा दूसरों की ओर निःस्वार्थ सेवा भावना भरकर बेहतर होती है और नए समाज का निर्माण होता है। प्लेटो ने इसे गंभीरता से लेते हुए इस पर विस्तृत विचार किया है।

शिक्षा योजना एवं पाठ्यचर्या का स्वरूप

प्लेटो की शिक्षा योजना के दो स्तर हैं 'प्रारम्भिक शिक्षा' तथा 'उच्च शिक्षा'। प्लेटो कहता है कि शिक्षा आयु के अनुरूप होनी चाहिए जैसे कि बाल्यावस्था में बालक को प्रयोगात्मक शिक्षा देनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं को परिष्कृत करके चरित्र का निर्माण करना है। यह शिक्षा सैनिक वर्ग को तैयार करने की है। प्लेटो की शिक्षा का सम्बन्ध केवल सैनिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग की शिक्षा से है। प्लेटो की शिक्षा योजना में सैनिक वर्ग में साहस जागृत करना है तथा पूर्ण संरक्षकों के लिए शिक्षा का उद्देश्य उन्हें विज्ञान और दर्शन का अध्ययन कराना है जिससे कि इनमें 'विवेक' का जागरण हो।

प्रारम्भिक शिक्षा

प्लेटो ने सलाह दी कि शिक्षा को राज्य द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा को 18 वर्ष की आयु तक संरक्षक वर्ग तक सीमित होना चाहिए। उसके बाद दो वर्षों की अनिवार्य सैनिक शिक्षा होनी चाहिए और इनमें क्षमतावान को उच्चतर शिक्षा मिलनी चाहिए। जहाँ प्राथमिक शिक्षा हमें आस पास के वातावरण के प्रति संवेदनशील बनाती है, वहीं उच्चतर शिक्षा सच्चाई की खोज में सहायता करती है। प्राथमिक शिक्षा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुभव विकसित करती है, नैतिक और सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णय में मदद करती है और शरीर को स्वस्थ और मजबूत बनाती है।

लड़के लड़कियों को समान शिक्षा मिलनी चाहिए तथा शारीरिक अन्तर को छोड़कर प्लेटो को उनकी क्षमता में कोई अन्तर दिखायी नहीं देता। दोनों की क्षमताएं भी समान होती हैं। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन यूनान में स्त्री की गौण स्थिति की सुक्ष्म आलोचना की।

प्राथमिक शिक्षा में संगीत और व्यायाम शामिल थे ताकि व्यक्ति के नम्र और कठोर पक्षों को मिलाकर एक समन्वयपूर्ण व्यक्ति का निर्माण हो। शारीरिक शिक्षा भावनाओं और इच्छाओं को स्थिरता प्रदान करके मस्तिष्क के लिए शरीर को तैयार करती है। संगीत तर्क की छिपी शक्ति को विकसित कर भावना को नम्र बनाता था। कविता और संगीत तथा कला सही काम करने का रुझान पैदा करते थे। इससे हर व्यक्ति बिना अतिवादी बने अपना काम करता।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग में आवश्यक गुणों के विकास के लिए साहित्य और संगीत पर पाबंदी लगाने का सुझाव दिया ताकि उनमें हानि कारक प्रभावों से बचा जा सके। प्लेटो ने जोर दिया कि बच्चों की

मृत्यु से नहीं डराना चाहिए नहीं तो युद्धभूमि में वे साहस का प्रदर्शन नहीं कर पाएंगे। बच्चों को देवताओं और महान व्यक्तियों की कहानियां बतायी जानी चाहिए ताकि उनका नैतिक विकास हो सके। प्लेटो युवक के जीवन से हर तरह की बुराई और कुरूपता दूर रखना चाहते थे।

सही गुणों में प्रशिक्षण वर्ग के सम्पूर्ण सदस्य निर्मित करेगा इस प्रकार के उम्र के साथ सही व्यवहार विकसित होगा। कला में शिक्षा के बाद दो वर्ष सैनिक शिक्षा दी जाएगी अपव्यय और बर्बादी पर पाबंदी लगाकर आत्मा को मजबूत किया जाएगा। प्लेटो ने एथेनियन व्यवहार पर जोर दिया था उसके तहत सत्रह अठारह से बीस वर्ष की आयु के बीच सैनिक सेवा अनिवार्य थी प्राथमिक शिक्षा इन लोगों को मजबूत कर सहायक सेना का निर्माण करेगी।

उच्चतर शिक्षा

बीस वर्ष की आयु में सबसे अच्छे व्यक्तियों को उच्च शिक्षा दी जाएगी। इसमें गणित, रेखागणित, खगोल विद्या और संगीत शामिल होगा। गणित शुद्ध सच्चाई की खोज में शुद्ध बुद्धि का प्रयोग है। प्लेटो की दृष्टि में सच्चाई विचार में न कि विशेष वस्तुओं में बसती है। इस दार्शनिक महत्व के अलावा गणित का व्यावहारिक महत्व भी है अर्थात् संख्या का प्रयोग योद्धाओं को अंको का प्रयोग जानना जरूरी है ताकि सेवाओं की व्यूह रचना कर सकें। खगोल शास्त्र अन्तरिक्ष पिंडों के अवलोकन तक सीमित नहीं है और संगीत कानों द्वारा विशेष स्वर ताल सुनने तक, बल्कि दोनों ही संवेदनाओं से मस्तिष्क को उपर उठाते है और तर्कशक्ति बढ़ाते है। उच्चतर शिक्षा मुक्त बौद्धिक अनुसंधान की भावना का विकास करती है।

जो बुद्धिवादी श्रेणी में नहीं आते है वे सैनिक बनकर शासक तबके की दूसरी शक्ति बनाते है। उच्चतर शिक्षा का प्रथम चरण दस वर्षों तक चलेगा और उनके लिए होगा जिनका विज्ञान की ओर झूकाव है। तीस वर्ष की आयु में एक ओर चुनाव होगा। जो क्षमता रखते है वे *डाइलैक्टिस* या *पराभौतिक* तर्क और दर्शन का अगले वर्षों तक अध्ययन करेंगे। वे अच्छाई के विचार और अस्तित्व के प्रथम सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। उन्हें शासन का आंशिक अनुभव होगा। वे सैनिक और राजनैतिक जीवन में पैंतीस वर्ष की आयु तक सहायक पदों पर रहेंगे। यह अगले पंद्रह वर्षों तक चलेगा। दार्शनिक 50 वर्ष की आयु तक पूरी तरह तैयार हो जायेगा। वह अपने समय का अधिकांश हिस्सा राजनैतिक जिम्मेदारियों के साथ दर्शन में लगाएगा। चूंकि वह अच्छाई का विचार आत्मसात कर लेगा इसलिए समुदाय की भलाई करने के लायक हो जायेगा। चूंकि प्लेटो ने शासन को वैज्ञानिक प्रशिक्षण का नतीजा बनाना चाहा, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे ज्ञान वाले लोग ही अच्छे शासक बन सकते है।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का मूल्यांकन

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त एक ओर सामाजिक दायित्वों को निपुणता से पूरा करने वाले व्यक्तियों एवं वर्गों के प्रशिक्षण की योजना है दूसरी ओर व्यक्ति को उसके तत्व ज्ञान का बोध करा उसे नैतिक और विद्वान बनाने की है। हम कह सकते हैं कि प्लेटो की शिक्षा प्रणाली नागरिकों के समाजीकरण की

विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति को राज्य के निर्धारित उद्देश्य के अनुरूप ढाला जा सके। प्लेटो कहते हैं कि यदि व्यक्ति को अच्छी शिक्षा दी जाती है तो उसका प्रभाव राज्य की उन्नति पर भी पड़ता है और गलत शिक्षा का विपरित असर पड़ेगा और राज्य में उन्नति की बजाय अवनति होगी।

लेकिन प्लेटो की शिक्षा में गुण के साथ कुछ दोष भी है। सबसे बड़ा दोष यह है कि प्लेटो की शिक्षा समाज के दो वर्गों सैनिक तथा दार्शनिक शासकों के लिए है। समाज के बहुसंख्यक उत्पादक वर्गों को इसके लाभों से वंचित रखा गया है। दूसरा कला और साहित्य के मूल पर कुठाराघात किया है। क्योंकि उसके कलेवर और स्वरूप पर राज्य का नियन्त्रण थोप दिया जाता है। कला का सृजनात्मक रूप तभी निखरता है जब वह राज्य के प्रतिबन्धों से मुक्त हो। इस आधार पर प्लेटों को फासीवादी विचारों का प्रवर्तक भी कहा गया है। तीसरा व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ विषयों की विविधता का होना जितना आवश्यक है उतना ही व्यक्ति की रूचि की विविधता का होना भी नितान्त आवश्यक है। प्लेटो की योजना में व्यक्ति की शिक्षा के लिए स्वरूचि की विविधता के अवसर नहीं हैं।

2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद

प्लेटो के अनुसार समाज में इस बात का जोर था कि क्षमतावान समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुरूप कार्य के लिए तैयार करना, पत्नियों और सम्पत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य था कि भ्रष्टाचार, दुर्घटना, पारिवारिक सम्बन्ध, आनुवांशिकता और धन सामाजिक स्थान के लिए मानदण्ड नहीं बने।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति और निजी परिवार समाप्त कर दिया क्योंकि इससे भ्रष्टाचार, पक्षपात, व्यक्तिवाद, गुटबाजी और दूसरी ऐसी भ्रष्ट आदतें पैदा होती हैं जो शासकों के बीच पाई जाती हैं राजनीति का अर्थ व्यक्तिगत स्वार्थ को बढ़ावा नहीं बल्कि सामूहिक भलाई करना था। इस प्रकार प्लेटो ने शासन और शासकों के लिए उच्च मानदण्ड स्थापित किए।

प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के लोग बैरकों में सामान्य सैनिकों के समान रहें उनके पास सोना या चांदी न रहे और आवश्यकतानुसार वे एक छोटी सी सम्पत्ति ही रखें। समाज के किसी भी वर्ग के लिए मकान या निजी सम्पत्ति की कोई जगह नहीं होनी चाहिए। वे उत्पादक वर्ग की ओर से सिर्फ एक नियत कोटा पाएंगे जो उनकी जीविका के लिए आवश्यक होगा।

प्लेटो की योजना इस पाइथागोरसवादी मान्यता पर आधारित थी कि स्त्री और पुरुष प्रकृतिक स्वभाव और क्षमताओं में समान थे। प्लेटो स्त्रियों को विधायक और शासक बनाना चाहते थे। उनके सिद्धान्त में दो विचार प्रमुख थे परम्परागत विवाह का सुधार और स्त्री मुक्ति। इसके लिए प्लेटो ने स्थायी विवाहों और निजी परिवारों के विलयन का प्रस्ताव रखा। यह सिर्फ संरक्षकों की स्त्रियों तक सीमित था।

प्लेटो विवाह को आध्यात्मिक मिलन या प्रेम या आपसी आदर पर आधारित मानने से इकार कर दिया। लेकिन प्लेटो मानते हैं कि समाज तथा मानव जाति की निरन्तरता के लिए विवाह अति आवश्यक है। इसलिए प्लेटो ने सन्तानोत्पत्ति के लिए अस्थायी यौन सम्बन्धों की वकालत की। उन्होंने स्त्रियों को बच्चों के लालन पालन की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया। प्लेटों ने प्रस्ताव रखा कि यौन सम्बन्धों का कठोरता से नियमन किया जाए ताकि सबसे अच्छे और स्वस्थ मनुष्य राज्य के हितों में तैयार किए जा सकें।

प्लेटो के अनुसार दोनों लिंगों के सबसे अच्छे व्यक्तियों के अधिकाधिक सम्बन्ध होने चाहिए और निम्न गुण के लोगों के सम्बन्ध कम से कम होने चाहिए। इस बात की जानकारी शासकों को होनी चाहिए कि यह कैसे सम्भव हो।

प्लेटों ने विवाह के लिए आदर्श उम्र पुरुषों में 25 से 55 और स्त्रियों में 20 से 40 रखी। उन्होंने माता और पुत्र, पिता और पुत्री के बीच सम्बन्धों पर पाबन्दी लगा दी। स्थाई वैवाहिक सम्बन्धों को समाप्त करने का उद्देश्य यौन उच्छृंखलता को बढ़ावा देना नहीं था बल्कि समुदाय की भलाई करना था। अवैध बच्चों के सम्बन्ध में गर्भपात का सुझाव था अर्थात् ऐसे बच्चों जिनकी अनुमति राज्य नहीं दी है या जो अनुमति से अधिक उम्र के व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों से जनित हों।

राज्य द्वारा निर्मित और प्रशासित नर्सों के द्वारा बच्चों की देखभाल की जाती है। अभिभावक और बच्चे भी आपसी सम्बन्धों के बारे में नहीं जानते। इसके पीछे जो उद्देश्य था वह यह कि बच्चे सभी वयस्कों के प्रति सम्मान का वह स्तर रखे जो अपने पिता के साथ होता है। इसी प्रकार सभी वयस्क बच्चों को उसी तरह प्यार करें मानों वे अपने बच्चे हों। प्लेटो ने जन्म को बहुत कम महत्व दिया और प्लेटो के अनुसार क्षमता आनुवांशिक नहीं होती है। क्षय विवाहों, नियंत्रित लाटरी और चुने हुए यौन सम्बन्धों के जरिए उच्च क्षमता वाले व्यक्ति तैयार किये जाते हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो के इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष है कि वे परिवार और विवाह सम्बन्धी मानवीय भावनाओं का ध्यान नहीं रखते फिर शुरुआती समाजवादियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। प्लेटो ने जोर दिया कि सम्पत्ति के प्रति निर्भय राज्य के कल्याण के लिए जरूरी था। अपनी सम्पत्ति से अधिक लगाव राज्य की एकता और नैतिकता के लिए हानिकारक था। इससे भ्रष्टाचार पैदा होगा। और राज्य विभाजित हो जाएगा प्लेटो राजनीति में आर्थिक कारकों की भूमिका को समझने वाले प्रथम थे। दूसरा दोष है प्लेटो ने सामाजिक वर्ग परिवार और सम्पत्ति की इजाजत दी, लेकिन संरक्षकों के कठोर नियंत्रण में जो किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं है।

प्लेटो का साम्यवाद सादा था जैसा कि धर्म स्थलों के जीवन में पाया जाता है। कई उन्हें आधुनिक समाजवाद के संस्थापक भी मानते हैं। साम्यवाद सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व से बढ़कर था। इसमें शोषण और दमन से मुक्त एक ऐसे समाज की कल्पना थी जो न्याय बराबरी, आजादी और जनतंत्र पर आधारित था।

2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरूप

आदर्श राज्य की कल्पना प्लेटो की अत्यन्त मौलिक धारणा है। प्लेटो के समय एथेंस में व्यक्तिगत स्वार्थपरता का बोलबाला था, सामाजिक एकता का अभाव था गैर राजनीतिक लोगों का राजनीति में हस्तक्षेप था। एथेंस की इन दुर्बलताओं ने प्लेटो को आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। प्लेटो ने तात्कालीन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

आदर्श राज्य के आधारभूत सिद्धान्त

प्लेटो का आदर्श राज्य जिन सिद्धान्तों और तत्वों पर टिका हुआ है वे मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

1. न्याय राज्य की आधारशिला:- प्लेटो के आदर्श राज्य की आधारशिला 'न्याय' है। प्लेटो कहता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग अपने नैसर्गिक गुणधर्म द्वारा निश्चित कार्य को कुशलतापूर्वक करे तथा दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्य को करे, यही न्याय है। आत्मा के तीन गुणों विवेक, साहस और क्षुधा के अनुकूल समाज में दार्शनिक शासक, सैनिक तथा कृषक वर्गों का अस्तित्व रहता है। समाज के ये तीनों वर्ग जब अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे तभी समाज में सामंजस्य स्थापित होगा, कार्यकुशलता बढेगी और समाज ठीक प्रकार से चलेगा। इन सभी गुणों को प्लेटो ने न्याय के गुण के नाम से सम्बोधित किया है संक्षेप में, न्याय प्लेटो के आदर्श राज्य का मूल तत्व है।

2. कार्य विशिष्टीकरण के लिए शिक्षा योजना:- प्लेटो की धारणा है कि शिक्षा के सशक्त रचनात्मक साधन द्वारा व्यक्ति को समाज के आदर्शों एवं कार्यों के अनुकूल ढाला जा सकता है समाज के अन्य वर्गों के लिए तो शिक्षा महत्व है ही फिर भी दार्शनिक शासक के निर्माण में उसकी महती भूमिका है। दार्शनिक राजा का निर्माण करना प्लेटो के दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। प्लेटो यूनानी परम्परा के अनुसार शिक्षा को नागरिक चरित्र निर्माण का प्रबल साधन मानता है प्लेटो के अनुसार शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में रहेगी। शिक्षा व्यवस्था अपने विशुद्ध रूप में अनवरत चलती रहे, इसके लिए उसने दार्शनिक शासकों को दायित्व भी सौपा है कि वे राज्य की शिक्षा व्यवस्था को उसी प्रकार बनाये रखें जैसे उन्हें विरासत में प्राप्त हुई है। व राज्य की शिक्षा व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं आने दें। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रकार की शिक्षा प्रणाली प्लेटो के आदर्श राज्य का अविभाज्य अंग है।

3. दार्शनिक शासकों की निरंकुशता विधि का लोप:- प्लेटो के दर्शन का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्लेटो के आदर्श राज्य में विधि और जनमत की उपेक्षा की गयी है। प्लेटो के आदर्श राज्य में लिखित कानून का लोप है क्योंकि प्लेटो की यह धारणा है कि स्वयं दार्शनिक शासन कानून की जीवित प्रतिमूर्ति है। उसका ज्ञान ही सर्वोपरि है। किन्तु एक बात याद रखने योग्य है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के अंकुश से मुक्त होते हुए भी अत्याचारी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता

है वह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। न तो वह आततायी है और न प्रजा उत्पीड़क वास्तव में प्रजा का पालन कर्ता है। इस प्रकार यह थोड़े से दार्शनिक शासकों का शासन होने से ज्ञानवानों का अल्पतन्त्र है। उपरोक्त के अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं कि प्लेटो के आदर्श राज्य का अत्यावश्यक तत्व दार्शनिक राजा की अवधारणा है।

4. शासक वर्ग के लिए साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था:- जब हम प्लेटो के साम्यावादी धारणा का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि प्लेटो शासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था को नितान्त आवश्यक मानते हैं प्लेटो के अनुसार शासक वर्ग के लिए न तो कोई कुटुम्ब होगा और न ही सम्पत्ति की व्यवस्था, अच्छे पुरुषों का सम्बन्ध समाज की उच्च स्तर की स्त्रियों के साथ बने ऐसा राज्य का कर्तव्य है। उससे समाज में अच्छे लोगो की उत्पत्ति होगी। साम्यावादी व्यवस्था भी प्लेटो के आदर्श राज्य की एक विशिष्टता है।

2.7 शासन एक कला है

प्लेटो मानता है जिस प्रकार भवन निर्माण या चित्र कला एक योग्यता वाली कला है उसी प्रकार शासन करने की भी एक रचनात्मक कला है। अतः शासन उन्हीं व्यक्तियों को करना चाहिए जो इस क्षेत्र में निपुणता रखते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्लेटो ने आदर्श राज्य में शासन का एकाधिकार, शासन के कलाकार दार्शनिक राजा को सौंपा है। प्लेटो मानता है कि जिस प्रकार शिल्पी की कला की सामग्री सीमित होती है जबकि दार्शनिक कलाकार की निर्माण सामग्री असीमित है सम्पूर्ण मानव और सम्पूर्ण ब्रह्मांड दार्शनिक की कला की निर्माण सामग्री है। अतः प्लेटो ने सच ही कहा है कि शासन एक कला है। अतः शासन करने का उन्हीं लोगों को अधिकार है जिन्हे इस कला का पूर्ण ज्ञान है।

2.8 द लॉज: प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य

द लॉज में प्लेटो ने वृद्धावस्था में लिखी जिसमें उसने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात की दार्शनिक आदर्श राज्य व्यवहारिक नहीं और उसे हासिल नहीं किया जा सकता क्योंकि वह शिक्षा पर अत्यधिक निर्भर था और कानून की उपेक्षा करता था। अर्थात् द लॉज में उन्होंने राज्य के सम्बन्धों में कानून की स्थिति का विश्लेषण किया। कानून राज्य और प्रजा दोनों पर लागू था। प्लेटो कहता है कि नगर में 5040 परिवार होने थे और प्रत्येक परिवार के पास निश्चित भूमि का क्षेत्र होना था। सबसे लायक बच्चे को जमीन मिलती थी और अतिरिक्त बच्चों को उन परिवारों को दे दिया जाता था जिनमें सदस्यों की संख्या कम थी। नगर की जनसंख्या बढ़ने पर नए स्थान पर जाने की योजना थी। प्रत्येक व्यक्ति 35 वर्ष की आयु तक विवाह कर लेता अन्यथा उसे वार्षिक दण्ड या टैक्स देना पड़ता।

द लॉज में आर्थिक असमानता के बुरे नतीजे दूर करने की बात कही गई है। धन को निरन्तर स्थान दिया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी व्यक्ति उत्तराधिकार में जितनी सम्पत्ति पाता था उससे केवल

वो चार गुना सम्पत्ति अपने पास रख सकता था। यदि कोई व्यापार या दूसरे तरीके से अधिक सम्पत्ति अर्जित करता था। तो उसे जनकोष में जमा कर दिया जाता था। सभी नागरिक अपनी अपनी सम्पत्ति एक जन संस्था में रजिस्टर करें।

प्लेटो कहता है कि श्रम विभाजन में गुलाम खेती करते थे ऐसे व्यक्ति जो नागरिक नहीं थे व्यापार और नागरिक पूरी तरह राजनैतिक कार्य में लगे रहते थे। अर्थतन्त्र और राजकीय ढांचे में मिश्रित संविधान लागू होता था। सैनिक सेवा के लायक लोग कानून के संरक्षकों के लिए मतदान करते थे।

द लॉज में भी प्लेटो ने शिक्षा की निर्णायक स्थिति पैदा की कानून के संरक्षक स्त्रियों की एक समिति चुनते जिनका काम था समझा बुझाकर जनसंख्या नियंत्रण के लिए विवाह कानूनों का नियमन करना। बच्चे नहीं होने पर दस साल बाद तलाक दिया जा सकता था। कुछ सदस्य बच्चों की देखभाल करते थे। बच्चों की शिक्षा तीन वर्ष की आयु से शुरू होकर 6 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षण दिया जाता था। छः वर्ष के बाद लड़के व लड़कियों को अलग कर दिया जाता था। लेकिन दोनों के शिक्षकों द्वारा राज्य की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षकों का वेतन राज्य देता था।

प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया। साहित्य और कला पर कठोर पाबंदी, स्त्रियों के लिए समान शिक्षा और सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने धर्म पर अधिक ध्यान दिया, उसे राज्य के नियंत्रण में रखा और किसी भी प्रकार की निजी धार्मिक शिक्षा पर पाबंदी लगाई एवं पूजा पाठ राज्य द्वारा अधिकृत पादरी ही कर सकते थे। वे धर्म द्वारा अव्यवस्था फैलाने, महिलाओं और धर्मान्धों पर उनका प्रभाव खत्म करने और नैतिक व्यवहार के पक्ष में धर्म का प्रयोग करने के हक में थे। उन्होंने नास्तिकों के लिए मृत्युदण्ड की सलाह दी।

अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटो ने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात अपने किस पुस्तक में की ?
2. प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया | सत्य /असत्य
3. प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में जनसंख्या कितनी हो ?
4. प्लेटों ने पुरुषों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?
5. प्लेटों ने स्त्रियों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?
6. प्लेटो के अनुसार आत्मा में कितने गुण होते हैं ?
7. प्लेटो के अनुसार आत्मा में तीन गुण के आधार पर राज्य में कितने वर्ग पाए जाते हैं ?

2.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हमें तत्कालीन यूनानी राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है और यह जानने को भी मिलता है कि किस प्रकार से उस समय वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक

जीवन में अस्थिरता व्याप्त थी | जिससे प्लेटो बहुत व्यथित था इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मेदार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है | जिसमें वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे। इस प्रकार से उसने शासक, सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की। जहां शासक को एक दार्शनिक राजा बनाने के लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलिए साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिसमें राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह बिना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा | परन्तु जब वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात् कानून पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक 'द लाज' में दिया है |

2.10 शब्दावली

सर्वसत्तावादी : वह सिद्धान्त जो राज्य की सारी शक्ति को एक ही जगह केन्द्रित करने, और लोगों के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने का समर्थन करता है।

राजनीतिक समाजीकरण:- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने समाज में राजनीतिक जीवन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण बनाता है और जिसके माध्यम से समाज अपने राजनीतिक मानकों और आदर्शों, मान्यताओं और विश्वासों को एक पीढ़ी तक पहुँचाता है।

विधि का शासन:- विधि का शासन ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग केवल कानून में निहित प्रक्रियाओं, सिद्धान्तों और प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही होना चाहिए व अन्य किसी आधार पर नहीं।

श्रम विभाजन:- आर्थिक जीवन के अन्तर्गत वह व्यवस्था जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उत्तरदायी बना दिए जाते हैं।

शासक वर्ग:- उन लोगों का समूह जो पूरे समाज पर अपने प्रभुत्व एवं शक्ति का प्रयोग करता है।

सामाजिक संविदा:- इसके अनुसार मनुष्यों ने आपस में अनुबंध या समझौता करके राज्य का निर्माण किया है ताकि वह उन्हें अराजकता और नियम हीनता की स्थिति से उबार कर समुचित संरक्षण और व्यवस्थित जीवन प्रदान कर सके।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.दॉ लॉज, 2.सत्य, 3.5040, 4. 25 से 55, 5.20से 40, 6.तीन गुण, 7.तीन ,

2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठा।

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?
2. प्रजातन्त्र के विषय में प्लेटो के विचारों की विवेचना कीजिए?
3. प्लेटो के आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ?
4. प्लेटो के साम्यवाद की कल्पना की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ? प्लेटो के साम्यवाद की तुलना आधुनिक साम्यवाद से कीजिए ?
5. प्लेटो की शिक्षा योजना का वर्णन कीजिए और बताइये कि वह किस प्रकार उसके मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है ?

इकाई 3 : अरस्तू

इकाई की संरचना

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप
- 3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त
 - 3.4.1 राज्य: उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य
- 3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार
- 3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
- 3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार
- 3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान
- 3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार
- 3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार
- 3.11 अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा
- 3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार
- 3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य
- 3.14 पॉलिटी (वैद्यानिक लोकतन्त्र)
- 3.15 सारांश
- 3.16 शब्दावली
- 3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई २ में हमने यह अध्ययन किया है कि किस प्रकार से उस समय की सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता से प्लेटो बहुत व्यथित था, इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मेदार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है। जिसमें वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे। इस प्रकार से उसने शासक, सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की। जहाँ शासक के एक दार्शनिक राजा बनाने लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलिए साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिसमें राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह बिना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा। परन्तु जब वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात् क्रान्तन पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक ‘द लाज’ में दिया है।

इस इकाई ३ में हम गुरु शिष्य की महान परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी अरस्तू के सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे और इसमें यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से वह सर्वप्रथम तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग कर शासन व्यवस्था का अध्ययन कर, अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा की शुरुआत सामाजिक विज्ञानों में करता है। इसके साथ-साथ इस इकाई में हम राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, दासता और नागरिकता, विधि और न्याय सम्बन्धी विचारों के अध्ययन करने के साथ, क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के अध्ययन और आदर्श राज्य के सम्बन्ध में भी अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम अरस्तू के अनुसार --

1. राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप को जान सकेंगे।
2. अरस्तू के दासता और नागरिकता सम्बन्धी विचार को जान सकेंगे।
3. संविधान के सम्बन्ध में विचार को जान सकेंगे।
4. कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे।
5. विधि और न्याय सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे।
6. क्रान्ति सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे।
7. आदर्श राज्य के बारे जान सकेंगे।

3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप

अरस्तू के माता पिता प्रकृति की वैज्ञानिक खोज से प्रभावित थे। अरस्तू के पिता एक चिकित्सक थे उनकी कार्यशैली वैज्ञानिक विचारों के बीच विद्यमान थी। अतः अरस्तू को पैतृक विरासत में वैज्ञानिक स्वभाव प्राप्त हुआ। ऐसे वैज्ञानिक स्वभाव की दृष्टि से उसने जीवन शास्त्र तथा राजनीति का वैज्ञानिक पद्धति अपना कर अध्ययन किया। अरस्तू के विचारों का जब हम अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि उसने राज्य की बुराईयों के कारणों को ढूँढना, उन्हें दूर करने के उपयों का सुझाव देना, तथ्यों का संग्रह एवं उनका वर्गीकरण और उनकी तुलना करना तथा उन तथ्यों के आधार पर अपने निष्कर्षों को स्थापित करना, अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक थी। अतः अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू की अध्ययन-पद्धति अनुभवमूलक थी जो उसे वंशानुगत प्रभाव से मिली थी।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति(Inductive Method) से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। और संविधानों की तुलना करके उनके गुण एवं दोषों का विवेचन किया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक थी।

3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

अरस्तू अपने विचारों के आधार पर यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते हैं और जब ग्राम के समुदाय बनते हैं तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य “समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।” अरस्तू के अनुसार परिवार मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की और ग्राम उसकी आर्थिक व धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं।

3.4.1 राज्य: उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य

1. राज्य एक नैसर्गिक मानवीय संस्था है- अरस्तू सोफिस्ट विचारकों के विपरित राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है। अरस्तू कहता है प्रकृति ने मनुष्य को विवेक एवं संवाद की शक्ति प्रदान की है। विवेक और संवाद के कारण मनुष्य, पशु-पक्षियों से भिन्न है इससे इतर वह समुदायों का निर्माण करता है। इस प्रकार कुटुम्ब प्राणियों की प्रथम नैसर्गिक संस्था है। कुटुम्ब से ग्राम और ग्रामों से राज्य बनता है। इस प्रकार राज्य की आधारभूत संस्थाएँ नैसर्गिक हैं, अतः उससे निर्मित राज्य भी एक नैसर्गिक संस्था है। राज्य की नैसर्गिकता का प्रमाण यह है कि उसकी उत्पत्ति जीवन के लिए हुई तथा

सुखी जीवन के लिए इसका अस्तित्व अभी भी बना हुआ है। हम यह भी मान सकते हैं कि राज्य इसलिए भी एक नैसर्गिक संस्था है क्योंकि वह मनुष्य स्वभाव में अन्तर्निहित है।

राज्य समूहों का समूह है:- अरस्तू की मान्यता है राज्य की दूसरी विशेषता है कि यह समुदायों का समुदाय है। अरस्तू कहता है कि राज्य एक विकसित संस्था है। वह कहता है कि नर-नारी से कुटुम्ब, कुटुम्ब से ग्राम तथा ग्रामों से राज्य का विकास होता है। राज्य विविध संस्थाओं से निर्मित एक संस्था है। यह परिवार और ग्राम जैसे समुदाय से मिलकर बना हुआ एक समुदाय है। अरस्तू के लिए राज्य का स्वरूप उसकी बहुलता से है। इस रूप में अपने विकसित रूप में राज्य समुदायों का एक समुदाय है।

राज्य का नैतिक उद्देश्य

अरस्तू के अनुसार राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है अतः राज्य एक नैतिक उद्देश्य है। “यद्यपि राज्य का विकास जीवन की भौतिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है, किन्तु उसका निरन्तर अस्तित्व इसलिए बना है जिससे कि राज्य में मनुष्य के ‘श्रेष्ठ जीवन’ की आवश्यकताओं की पूर्ति होते रहे।” अरस्तू कहता है कि राज्य मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति की पूर्ति करता है। राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके पास वे सारे साधन उपलब्ध हैं जिससे कि मनुष्य का सम्पूर्ण एवं स्वतंत्र नैतिक विकास होता है। राज्य की अस्तित्व मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन के लिए होता है। इस प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि राज्य का उद्देश्य नैतिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करना है।

व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की अग्रता:- राज्य के स्वरूप के बारे में अरस्तू कहता है कि “राज्य व्यक्ति की पूर्ववर्ति संस्था है। इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखता है कि राज्य एक सम्पूर्णता है, व्यक्ति जिसका एक अंग मात्र है। इसका अस्तित्व “व्यक्ति से अग्र (पूर्व) है।” अरस्तू राज्य को सावयवी(Organic) संस्था मानता है और व्यक्ति इस शरीर का एक अंग मात्र है। यदि सम्पूर्ण शरीर नहीं है तो उसके अंग हाथ अथवा पैर का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होगा। यदि हम तार्किक दृष्टि से विचार करे तो अंग सम्पूर्ण की पूर्व कल्पना करता है। पहले सम्पूर्ण की कल्पना होगी तभी अंग की कल्पना की जा सकती है। अतः राज्य व्यक्ति पूर्ववर्ती है।

राज्य आत्मनिर्भर संस्था है:- अरस्तू की मान्यता है कि “राज्य एक आत्म निर्भर संस्था है।” वह राज्य को आत्म-पर्याप्ति की सर्वोच्च संस्था मानता है। अतः यह परिपूर्ण समाज है। उसका मानना है कि राज्य आर्थिक नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सभी दृष्टि से स्वतन्त्र संस्था है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। वह राज्य की क्रियाओं का भागीदार बनकर उस आत्म-निर्भरता का भागीदार बनता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं यही राज्य का वास्तविक प्रायोजन होता है। मनुष्य के

जीवन को कोई भी भौतिक तथा नैतिक आवश्यकता नहीं जिसकी कि पूर्ति राज्य के द्वारा तथा राज्य के अन्तर्गत न की जा सके। अतः अरस्तू को राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया है कि यह कुटुम्बों और ग्रामों को समुदाय है जिसका अस्तित्व “सुखी और आत्म-निर्भर जीवन के लिए है।

3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार

इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान में दास-प्रथा का प्रचलन था। और अरस्तू ने दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। अरस्तू दास को परिवार का अभिन्न अंग मानता है। दास कौन है? इस संबंध में अरस्तू बताता है कि जो व्यक्ति प्रकृति से अपना नहीं अपितु दूसरे का है लेकिन फिर भी मनुष्य है, वह प्रकृति से दास है जो कि मनुष्य तो है फिर भी दूसरे के कब्जे में है, उसे हम दूसरे के कब्जे की वस्तु कहेंगे और जो वस्तु कब्जे की है उसकी परिभाषा यह है कि वह कार्य साधन है, ऐसा कार्य का साधन जो कब्जाधारी से भिन्न है।” दास कौन है? को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

1. जो व्यक्ति अपनी प्रकृति के कारण स्वयं का नहीं अपितु दूसरे का है, फिर भी मनुष्य है, वह स्वभावतः दास है।
2. दास का गुण बताते हुए वह कहता है कि वह व्यक्ति जो मनुष्य होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और जो दूसरे के कब्जे में रहता है, वह दास है।
3. तीसरा जो दूसरे के कब्जे की वस्तु है जो कार्य का साधन है, और जिसे वस्तु के कब्जाधारी से पृथक किया जा सके, वह दास है।

दास प्रथा के समर्थन में तर्क | अरस्तू ने दासता के ओचित्य में विभिन्न प्रकार के तर्क हैं।

1. **दासता नैसर्गिक है** - अरस्तू कहता है कि दासता नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्यों को इस प्रकार बनाया है कि उसमें दो वर्ग का निर्माण होता है स्वामी और दास। अरस्तू बताता है कि जा व्यक्ति शासन चलाने की योग्यता रखते हैं और आदेश देने वाले होते हैं उन्हें स्वामी कहते हैं। और जो उन आदेशों का पालन करते हैं उन्हें दास कहते हैं। अरस्तू दासता को इस नैसर्गिक नियम के आधार पर सही मानता है। क्योंकि इसमें श्रेष्ठ व्यक्ति हमेशा निकृष्ट व्यक्ति पर शासन करते हैं। दासता को नैसर्गिक बताने के लिए अरस्तू प्रकृति के सर्वव्यापी सिद्धान्त लेता है।
2. **दासता स्वामी और दास दोनों के लिए उपयोगी है**- अरस्तू मानता है कि दासता स्वामी और दास दोनों के लिए हितकर है। अरस्तू की मान्यता है कि स्वामी का महत्वपूर्ण कार्य राजनिती है। नगर के राजकार्यों में भाग लेकर नैतिक उत्थान में

कार्य करना है और कार्य के लिए स्वामी का अवकाश चाहिए होता है। और स्वामी यह कार्य अवकाश तभी ले सकता है जबकि दास उसके घर के कार्यों के लिए श्रम करें। उसी अवकाश के समय में स्वामी नागरिक जीवन का भागीदार बनकर अपने बौद्धिक तथा नैतिक जीवन की उपलब्धि के लिए कार्य करता है। और दास भी स्वामी साहचर्य में रहकर सदगुणों को सीखता है। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, स्वामी के सदगुण की छत्रछाया में दास लाभ को प्राप्त करता है। इस प्रकार दासता स्वामी और दास दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध होती है।

3. दासता प्रकृतिक नियमानुकूल है- दासता की प्रामाणिकता की पुष्टि अरस्तू ने प्रकृति के शासन—शासित नियम के आधार पर भी की है। वह मानता है कि प्रकृति में हमेशा 'शासक' तथा 'शासित' पदार्थ होते हैं। उच्च का निम्न पर हमेशा शासन रहता है। इस प्रकार सामाजिक जगत में स्वामी का दास पर शासन प्रकृति नियमाकूल है।

दास कुटुम्ब की सम्पत्ति है। अरस्तू की मान्यता है कि सम्पत्ति दो प्रकार की होती है-

- (1) सजीव सम्पत्ति। (2) निर्जीव सम्पत्ति। घर की वस्तुएं कुटुम्ब की निर्जीव सम्पत्ति है किन्तु दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति होती है। सम्पत्ति के ये दोनों ही प्रकार जीवन के लिए आवश्यक है। अतः दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति के रूप में पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है।

दासता के प्रकार:- अरस्तू दासता के दो प्रकार बताता है- नैसर्गिक दासता तथा कानूनी दासता। वे व्यक्ति जो प्रकृति से ही निर्बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति प्रधान है, वे नैसर्गिक दास है। वे व्यक्ति जो युद्ध में बन्दी बना लिये जाता है और जिन्हें दास बना लिया जाता है, यह कानूनी दासता है। इस प्रकार प्रकृति और शक्ति द्वारा दास बनाये जाते हैं। कानूनी दासता के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार हैं कि यूनानियों को विजित दास नहीं बनाया जाए। केवल बर्बर जाति के लोगों को ही कानूनी दास बनाया जाए।

3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने प्लेटो के विपरीत नागरिकता को अपने राजनीतिक विश्लेषण का केन्द्र बनाया। राजनैतिक पद हासिल करना एक स्वाभाविक रूझान था। संवैधानिक सरकार के कारण लोग बिना गड़बड़ी के राजनैतिक पद हासिल कर सकते थे।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिकों के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था। नागरिक को संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे।

अरस्तू की मान्यता थी कि बच्चे, बूढ़े और स्त्रियां नागरिक नहीं हो सकते थे क्योंकि वे क्रमशः अपरिपक्व कमजोर और तर्कबुद्धि विहीन थे। प्लेटो के सामान अरस्तू समझते थे कि नागरिकता एक विशेषाधिकार है और उत्तराधिकार में पाया जाता है। नागरिकों को छोटे और सुगठित पोलिस में रहना चाहिए। प्लेटो का पाँच हजार नागरिकों का संगठन काफी बड़ा था क्योंकि उसके लिए असीमित जगह की आवश्यकता थी। छोटे समुदाय में सभी नागरिक एक-दूसरे को जानते, विवादों का निपटारा करते और क्षमता के अनुसार उचित पदों को बटवारा कर सकते थे।

अरस्तू का एक अच्छा नागरिक संविधान का पालनकर्ता है, जिम्मेदारी वहन करने लायक उसके पास समय होता है, विविध दिलचस्पियाँ होती हैं और निःस्वार्थ सहयोगी जीवन के गुण होते हैं। वे नागरिक को “जनमामलों में हिस्सेदारी की मित्रता मानते हैं। यह अधिकार निश्चित वर्ग के बाहर दूसरों को नहीं मिल सकता था। वास्तव में यूनानी नागरिकता अधिकारों पर उतनी आधारित नहीं थी जितनी कि जिम्मेदारियों पर।

3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार

अरस्तू की संविधान की धारणा आधुनिक संविधानों की धारणाओं से अधिक व्यापक है। अरस्तू ‘संविधान’ को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है। संविधान को परिभाषित करते हुए अरस्तू लिखता है कि “संविधान सामान्यतः राज्य में पदों के संगठन की एक व्यवस्था है, विशेषतः ऐसे पदों की सभी मुद्दों में सर्वोच्च हैं।”

संविधान का वर्गीकरण:- अरस्तू ने संविधान के दो वर्गीकरण को मान्यता दी है। (1) शासकों की संख्या जिनके हाथों में शासन की सत्ता रहती है, (2) शासन का उद्देश्य क्या है? पहले आधार पर संविधान का वर्गीकरण करते हुए अरस्तू बताता है कि शासन की सत्ता एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्ति के शासन को राजतंत्र (Monarchy) ; थोड़े व्यक्तियों के शासन को ‘अल्पतन्त्र’ (Aristocracy) तथा अधिक लोगों के शासन को ‘पोलिटी’ (Polity) कहता है। संविधान के इन तीनों प्रकारों को आधार ‘शासकों की संस्था’ है।

किन्तु अरस्तू इस आधार को आकास्मिक मानता है। वर्गीकरण का वास्तविक आधार शासकों को उद्देश्य क्या है? को मानता है। शासन यदि भले ही एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्ति अथवा अधिक

व्यक्तियों का हो, सार्वजनिक हित से प्रेरित होकर कार्यशील है, अरस्तू उसे 'संविधान' मानता है। निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया शासन कभी ठीक नहीं हो सकता। अरस्तू ऐसे संविधान को विकृत संविधान की संज्ञा देता है। तदुसार सामान्य हित से प्रेरित एक व्यक्ति के शासन को अरस्तू 'राजतन्त्र' थोड़े से व्यक्तियों के शासन को 'अल्पतन्त्र' तथा अधिक लोगों के शासन को पॉलिटी अर्थात् 'संयत लोकतन्त्र' बताता है। दूसरी कोटी 'विकृत संविधानों की है।' जब शासक 'निजी हित' से प्रेरित होकर शासन करते हैं तब तक एक व्यक्ति विकृत शासन निरंकुशतन्त्र, थोड़े से व्यक्तियों का विकृत शासन 'धनिकतन्त्र' और अधिक लोगों का अधिक निर्धन लोगों के हितार्थ विकृत शासन लोकतन्त्र कहलाता है। संख्या के आधार पर तथा उद्देश्य के आधार पर किये गये संविधानों के वर्गीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

शासकों की संख्या	उद्देश्य के अनुसार	
	सार्वजनिक हित के लिए 'सही' शासन	निजी स्वार्थ के लिए विकृत शासन
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र /Monarchy	निरंकुशतन्त्र /Tyranny
थोड़े व्यक्तियों का शासन	कुलीतन्त्र /Aristocracy	धनितन्त्र/ Oligarchy
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	पॉलिटी /Polity	लोकतन्त्र)भीड़तन्त्र(/Democracy

शुद्ध शासन के तीन प्रकार

उपयुक्त शारणी से स्पष्ट होता है कि "सार्वजनिक हित" में किये जाने वाला शासन 'सही' अथवा शुद्ध है। यह शासन जब एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है उसे अरस्तू "राजतन्त्र" कहता है। थोड़े व्यक्तियों द्वारा किया गया 'शुद्ध' शासन अल्पतन्त्र है तथा अधिक संख्यकों द्वारा सार्वजनिक हितार्थ

क्रिया गया शासन पॉलिटी है। इस आधार पर शुद्ध संविधान के ये ती प्रकार है- राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तथा पॉलिटी।

विकृत शासन के तीन प्रकार:- उपयुक्त तीनों प्रकार के शासन निजी स्वार्थों की पूर्ति के समय-समय पर विकृत रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार राजतन्त्र का विकृत रूप निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र का विकृत रूप धनिकतन्त्र तथा संयत लोकतन्त्र (पॉलिटी) का विकृत रूप भीड़तन्त्र अर्थात् लोकतन्त्र हो जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि अरस्तू ने कुल 6 प्रकार के शासनों का वर्णन किया है जिनमें अपने उद्देश्य के अनुसार तीन शुद्ध तथा तीन विकृत प्रकार हैं।

3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान

अरस्तू संविधानों को 6 प्रकार में वर्गीकृत करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ संविधान खोजता है। मनुष्य के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए अधिकांश राज्यों के लिए व्यावहारिक संविधान की खोज करना अरस्तू के चिंतन का आधार है। अरस्तू के अनुसार “राजनीतिक समाज का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वह है जिसमें सत्ता का निवास मध्यवर्ग में हो। “अरस्तू की मान्यता है कि श्रेष्ठता मध्यवर्ग में पायी जाती है लेकिन इसके साथ शर्त है कि समाज में मध्यवर्ग काफी बड़ा है। अतः न तो धनी लोगों का शासन ही उचित है और न ही अत्यधिक निर्धन वर्ग के लोगों का। श्रेयस्कर राज्य इन दोनों के मध्य का है जिसे अरस्तू पॉलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। पॉलिटी का शासन मध्यवर्ग पर आधारित है। उसके विचारानुसार ‘पॉलिटी’ का शासन संयत तथा मध्यममार्गी है। अतः यह व्यावहारिक भी है और श्रेष्ठ भी। संयत लोकतन्त्र को अरस्तू वर्गतन्त्र और भीड़तन्त्र का मध्यमान भी मानता हैं ऐसे गुणों से युक्त मध्यवर्ग पर आधारित ‘पॉलिटी’ को अरस्तू सामान्य रूप से व्यावहारिक श्रेष्ठ संविधान स्वीकार है।

3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटों ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटों के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विषयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

परिवार सम्बन्धी विचार:- अरस्तू परिवार को मनुष्य की नैसर्गिक संस्था मानता है जिसके द्वारा उसके जीवन की नितान्त प्रारम्भिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। परिवार में पति, पत्नी

सन्तान तथा दास सम्मिलित हैं। परिवार का चौथा आवश्यक तत्व 'अर्जन' है। इन तत्वों के अभाव में परिवार की कल्पना नहीं की जा सकती है। यद्यपि कुटुम्ब व्यक्ति के भौतिक जीवन की आधारशिला है तथापि उसका प्रबन्ध एक नैतिक कला है तथा जिसका उद्देश्य परिवार के सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता को प्राप्त करना है। अरस्तू की मान्यता है कि यदि परिवार का साम्यवादीकरण करके उसे छिन्न-भिन्न किया जाता है तो उसके सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता की पहली पाठशाला ही नष्ट हो जायेगी। इस आधार पर अरस्तू प्लेटो की आलोचना करता है कि उसके साम्यवाद की योजना परिवार को नष्ट करके व्यक्ति के जीवन की प्राथमिक नैतिक संस्था तथा उसका नैतिक करण करने वाली प्रथम संस्था को नष्ट कर देती हैं।

सम्पत्ति के साम्यवाद के विरुद्ध अरस्तू के विचार:- अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद का योजना का भी आलोचक है। अरस्तू सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व व्यवस्था ही उपयुक्त है जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का निजी स्वामित्व होता है। अरस्तू की सम्पत्ति सम्बन्धी धारणा है कि वैयक्तिक रूप से उस पर "स्वामित्व हो किन्तु उसका उपयोग सामूहिक हित" के लिए हो। अरस्तू का मानना है कि जब सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व होता है तब कलहों को आधार कम हो जाते हैं सम्पत्ति के कारण व्यक्ति में दानशीलता, मैत्री, आतिथ्य सेवा अथवा उदारता जैसे नैतिक गुणों का विकास होता है। जिसके पास निजी सम्पत्ति है वह व्यक्ति राज्य के साथ अपने हित को एक मानता है तथा सम्पत्ति हीन व्यक्ति राज्य के प्रति एकता के भाव नहीं रख सकता। निजी सम्पत्ति की भावना व्यक्तियों को अधिक उद्यम करने की प्रेरणा देती है जिसमें मनुष्य बालू रेत को भी सोने में बदल देता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में अरस्तू सबसे प्रबल तर्क यह है कि सम्पत्ति की संस्था युगों से चली आ रही हैं अतः युगों के संचित ज्ञान को ठोकर मारकर उसका तिरस्कार करना बड़ी भूल है। इस प्रकार विविध तर्क देकर अरस्तू सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का समर्थन करता है।

3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार

अरस्तू के अनुसार राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता है कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है। अरस्तू कानून को "वासना से अप्रभावित विवेक" मानता है और इस आधार पर यह प्रतिपादित करता है कि "विधि का शासन किसी व्यक्ति के शासन की अपेक्षा श्रेयस्कर है।" अतः अरस्तू का निष्कर्ष है कि कानून में ऐसा 'अवैयक्तिक तत्व' है जो किसी श्रेष्ठतम व्यक्ति के शासन में भी संभव है। विधि के शासन की अन्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए अरस्तू बताता है कि कानून को संविधान के अनुकूल होना चाहिए। तभी कानून न्यायपूर्ण होता है कि अरस्तू सतत् रूप से 'विधि शासन' की दृढ़ समर्थक है। अरस्तू के शब्दों में "विधि का शासन किसी एक

व्यक्ति के शासन की अपेक्षा वाछंतीय है, भले ही व्यक्तियों का शासन उचित लगता हो तब भी व्यक्तियों को विधि का संरक्षक अथवा विधियों का सेवक ही बनना चाहिए।”

अरस्तू विधि को विवेक का ही दूसरा रूप मानता है। कानून स्वार्थों से युक्त विवेक की वाणी है। क्योंकि कानून विवेक सम्मत होता है, अतः राज्य में विधि का शासन होना चाहिए अरस्तू के विधि

की सर्वोच्चता सम्बन्धी विचार प्लेटो के द लॉज 4 में प्रतिपादित विचारों के समान ही है, किन्तु

कानून की सम्प्रभुता को स्वीकार कर अरस्तू ने प्लेटो के रिपब्लिक की उस धारणा को स्पष्ट रूप से खंडित किया है कि राज्य में ज्ञान का अथवा दार्शनिक राजा का शासन सर्वश्रेष्ठ होता है अरस्तू मूर्त व्यक्ति के शासन की अपेक्षा अमूर्त विधि के शासन अथवा विधि के शासन के समर्थक थे।

3.11 अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि ‘न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।’ इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में ‘सदगुण और न्याय’ पर्यायवाची है। उसके अनुसार जब सदगुण व्यक्ति के व्यवहार में प्रकट होता है, यही न्याय है।

न्याय के दो प्रकार-सामान्य और विशिष्ट न्याय:- अरस्तू ने न्याय के दो प्रकार बताये हैं- ‘सामान्य न्याय’ तथा ‘विशिष्ट न्याय’। सामान्य न्याय से तात्पर्य सम्पूर्ण श्रेष्ठता से है। इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता का प्रयोग व्यक्ति अपने पड़ोसी के साथ व्यवहार में करता है। पड़ोसियों के प्रति नैतिक व्यवहार तथा नैतिक सदगुण का आचरण ही सामान्य न्याय है। ‘विशिष्ट न्याय’ सामान्य न्याय का ही अंश है। इसका सम्बन्ध श्रेष्ठता के विशिष्ट पक्ष से है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ समभाव से अथवा समता के साथ व्यवहार करता है।

”अरस्तू विशिष्ट न्याय के कभी दो रूप मानता है। वितरणात्मक न्याय तथा परिशोधनात्मक न्याय जिसे प्रतिवर्ती-न्याय या प्रतिकारात्मक न्याय भी कहा जाता है

।” अरस्तू की न्याय की धारणा का वर्गीकरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

सामान्य न्याय (नैतिक न्याय)	विशिष्ट न्याय
	1. वितरणात्मक न्याय Distributive Justice 2. परिशोधनात्मक न्याय Corrective Justice

अरस्तू के राजनीतिक सिद्धान्त में वितरणात्मक न्याय की धारणा का विशेष महत्व है। वितरणात्मक न्याय वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य अपने सदस्यों के बीच सरकार के पदों सम्मानों तथा अन्य दूसरे प्रकार के लाभों को वितरित करता है। वितरणात्मक न्याय पदों के वितरण का वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा व्यक्ति को उसके द्वारा राज्य को दिये गये योगदान के अनुपात में उसे पुरस्कार दिया जाता है, अधिक योगदान के अनुपात में अधिक पुरस्कार तथा कम योगदान के अनुपात में कम पुरस्कार। अरस्तू की धारणा है कि वितरणात्मक न्याय राज्य में असमानता को बढ़ावा नहीं देता अपितु जो योग्य है उन्हें अयोग्यों से असमान स्वीकार कर उनकी योग्यता के अनुपातों में पद तथा अधिकार प्रदत्त करता है। अरस्तू की समानता की यही धारणा है कि राज्य के सभी संवैधानिक अधिकारधारी अपनी योग्यतानुसार ही राज्य के लाभों को प्राप्त कर सकें। अतः योग्यता के अनुपात में राज्य के पदों का लोगों में वितरण करना ही अरस्तू का 'वितरणात्मक न्याय' का सिद्धान्त है। वर्कर के अनुसार, 'विशिष्ट न्याय (वितरणात्मक न्याय) समान व्यक्तियों के समुदाय का ऐसा गुण है जो एक ओर अपने सदस्यों को उनके योगदान के अनुसार पद एवं अन्य पुरस्कार वितरित करता है।'

विशिष्ट न्याय का दूसरा पक्ष सुधारात्मक न्याय है। सुधारात्मक न्याय राज्य की उस व्यवस्था को कहते हैं। जिसके द्वारा व्यक्तियों में पारस्परिक लेन-देन के सम्बन्धों का नियमन किया जाता है। सुधारात्मक न्याय का दायरा 'राज्य और व्यक्ति' नहीं है, यह 'व्यक्ति और व्यक्ति' के बीच का दायरा है।

3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

प्लेटो परिवर्तन को पतन और भ्रष्टाचार से जोड़ते थे, दूसरी ओर अरस्तू परिवर्तन का अनिवार्य और आदर्श की शिक्षा में गति मानते थे। प्लेटो के विपरीत वे प्रगति को सम्पूर्णता की ओर विकास समझते थे लेकिन साथ ही अनावश्यक और निरंतर परिवर्तन के खिलाफ थे। अरस्तू का परिवर्तन सम्बन्धी विचार विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन का नतीजा था।

क्रान्तियों के सामान्य कारणों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया-

(1) मनोवैज्ञानिक कारण (2) मस्तिष्क में उद्देश्य (3) राजनैतिक उथल-पुथल और आपसी टकराव को जन्म देने वाली परिस्थितियां।

मनोवैज्ञानिक कारण धनितन्त्र में समानता और जनतंत्र में असमानता की इच्छा है। उद्देश्यों में मुनाफा, सम्मान, घमण्ड, डर किसी रूप में बेहतरी घृणा, राज्य के किसी हिस्से में असंतुलित विकास चुनाव के जोड़-तोड़, उदासीनता विरोध का डर, राज्य के अवयवों के बीच टकराव होते हैं। क्रान्तिकारी

परिस्थितियों को जन्म देने वाले अवसर घमण्ड, मुनाफा और आदर के लिए इच्छा, श्रेष्ठता, डर, घृणा और राज्य के इस या उस अवयव का असमान विकास है।

हर संविधान में विशेष कारण खोज निकाले गए। जनतन्त्र में कुछ लप्फाज जनता को भड़काकर धनिकों पर हमला करते थे। इस कारण दमन और शासकों में मन-मुटाव से अस्थिरता पैदा होती थी। कुलीनतन्त्र में सरकार सीमित करने का अर्थ अस्थिरता का कारण था। विद्रोह तब पैदा होता है जब-

(1) आम जनता स्वयं को शासकों के बराबर समझती है। (2) जब महान व्यक्तियों का शासकों द्वारा अपमान किया जाता है। (3) जब क्षमतावान लोगों को सम्मान से दूर रखा जाता है। (4) जब शासक वर्ग के अन्दर कुछ गरीब होते हैं और परिवर्तन का शिकार बनते हैं। गरीबों से उचित व्यवहार न होने पर वे विद्रोह करके कुलीनतन्त्र को जनतन्त्र में बदल देते हैं।

राजतन्त्र में क्रान्ति का निदान कानून के प्रति वफादारी की भावना भरना है। ओलिगार्की या कुलीनतन्त्रों में निदान नागरिक समाज और संवैधानिक अधिकारों वाले लोगों के साथ शासकों के अच्छे सम्बन्ध हैं। किसी को भी अन्य नागरिकों की तुलना में बहुत ऊँचा उठाना चाहिए क्योंकि धन के मुकाबले पदों में असमानता लोगों को क्रान्ति की ओर धकेलती है। सबको कुछ सम्मान दिया जाय। निरंकुश तानाशाह विभाजन और शासक की नीति के जरिए, धनी और गरीबों के बीच वर्गीय घृणा तेज करके तथा खूफियों का जाल बिछाकर अस्थिरता पर विजय पाते हैं। ऐसे शासक को धार्मिक दिखाई पड़ना चाहिए, गरीबों के रोजगार के लिए जन कार्य करने चाहिए, फिजूल खर्चों में कटौती करनी चाहिए और परम्पराओं का पालन करना चाहिए।

अरस्तू ने बताया कि क्रान्तियाँ और बगावत आमतौर पर सरकार की छवि के कारण होती हैं। सरकारी पदों का व्यक्तिगत फायदे के लिए दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए। संवैधानिक स्थायित्व के लिए पदाधिकारियों में तीन गुण होने चाहिए, एक संविधान के प्रति वफादारी, दो असाधारण प्रशासनिक क्षमता, तीन चरित्र की एकाग्रता, अच्छाई और न्याय-प्रियता। उन्होंने सरकारी प्रचार में शिक्षा, कानून, न्याय और समानता इत्यादि पर जोर दिया।

3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य

अरस्तू ने भी प्लेटो की भाँति अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के अन्तिम चरणों में 'राजनीतिक आदर्शों' तथा श्रेष्ठ एवं सुखी जीवन का विवेचन किया है। अरस्तू तीन प्रकार के शुभों की कल्पना करता है- बाह्य शुभ, शारीरिक शुभ तथा आत्म शुभ। अनुभव यह सिद्ध करता है कि इन हितों अथवा शुभों में आत्मा के शुभ की प्राथमिकता रहती है। साहस, विवेक एवं अन्य प्रकार के नैतिक गुण आत्मिक शुभ के अभिन्न तत्व हैं। इस आधार पर अरस्तू का निष्कर्ष है कि 'राज्यों तथा व्यक्तियों दोनों ही के

लिए जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग शुभतापूर्ण जीवन है।” अरस्तू के विचारानुसार आदर्श संविधान वह है जिसमें दार्शनिक वृत्ति तथा व्यावहारिक गुणों से सम्पन्न सभी प्रकार में लोगों को ऐसे अवसर मिलें जिससे कि वे अपने श्रेष्ठतम को प्राप्त कर सकें तथा सुखी जीवन जी सकें।

आदर्शराज्य के आवश्यक तत्व

1. जनसंख्या:- आदर्श राज्य के लिए अरस्तू इतनी जनसंख्या को आवश्यक मानता है जो कि आकार अथवा मात्रा में न अधिक हो और न ही कम। राज्य की आबादी इतनी पर्याप्त होनी चाहिए जिसमें कि राज्य के नागरिकता के कार्यों का निष्पादन भली प्रकार से हो सके। राज्य के सिविल कार्य यह निर्धारित करते हैं कि राज्य की आबादी कितनी होनी चाहिए। अधिक आबादी राज्य की महानता का परिचायक नहीं होती। अतः अरस्तू की सिविल कार्य को करने में एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप में पहचान सकें तथा राज्य को आत्मनिर्भर बने रहने में सहयोग दे सकें।

2.राज्य का भू-प्रदेश:- अरस्तू के अनुसार राज्य का भू-प्रदेश भी जनसंख्या के समान न तो बहुत कम हो और न ही अत्यधिक बड़ा। राज्य की भूमि इतनी हो जिस पर कि नागरिक अवकाश का जीवन बिता सकें नागरिकों के भरण-पोषण से सम्बन्धित इतनी फसल उस भूमि पर उत्पन्न हो, जिससे कि वे अपना जीवन आत्म निर्भरता, मित्राचार तथा उदारता के साथ जी सकें। भूमि के सर्वेक्षण के आधार पर राज्य की सुरक्षा का प्रबंध किया जा सकता है। नगर की आयोजना की जा सकती है तथा आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से तथा उसके आस-पास के इलाकों के साथ संबंधों का निर्धारण किया जा सकता है।

3.राज्य की सामाजिक संरचना:-अरस्तू आदर्श राज्य के आवश्यक तत्वों में राज्य की समुचित सामाजिक संरचना को भी एक आवश्यक तत्व मानता है। वह राज्य की संरचना के दो प्रमुख आधार मानता है। ‘समाकलन अंग’ ; तथा उनके ‘सहायक सदस्य’ ; वह नागरिकों को ‘समान अंग’ के रूप में मानता है। दासों और अन्य सेवाओं को करने वालों कृषकों तथा औजार इत्यादि बनाने वालों को वह ‘सहायक सदस्यों’ के नाम से पुकारता है। नागरिक राज्यों के कार्यों में भाग लेते हुए श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करते हैं। सहायक सदस्य उस श्रेष्ठ जीवन की सुविधाओं और सेवाओं की व्यवस्था करते हैं। राज्य की संरचना के इन दोनों अंगों द्वारा सेवाओं को समाज के लिए प्रदान किया जाना आवश्यक है। ये सेवाएं इस प्रकार हैं- कृषि, कला एवं शिल्प, राज्य की सुरक्षा, भू-स्वामित्व, सार्वजनिक पूजा तथा नागरिक एवं राजनैतिक जीवन की सेवा। आदर्श राज्य की सामाजिक संरचना इतनी सक्षम हो कि जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी संस्थाओं द्वारा की जा सके। इन सेवाओं की पूर्ति के लिए अरस्तू ने यहां तक भी निश्चित किया है कि कौन सी सेवा किसके द्वारा निष्पादित की जायेगी।

4- आदर्श राज्य की शिक्षा व्यवस्था:- प्लेटो की भाँति अरस्तू की भी यह मूल धारणा है कि शिक्षा वह उचित साधन है जिसके द्वारा नागरिकों को विवेकशील बनाया जाता है तथा उनके स्वभाव में सदगुणों के जीवन के आदर्शों के अनुसार ढालने की व्यवस्था है। अरस्तू प्लेटो की भाँति नागरिकों तथा शासकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा- योजना प्रस्तुत नहीं करता अपितु एक ही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था करता है। उसकी यह धारणा है कि सभी व्यक्ति समाज में एक समान स्वतन्त्र नागरिक हैं। उसकी शिक्षा प्रणाली अवश्य ही आयु के आधार पर व्यक्तियों के भेद को स्वीकार करती है। उसकी मान्यता है कि बाल्यावस्था के लोगों के लिए तदनुकूल शिक्षा हो तथा प्रौढ़ों के लिए उनकी आयु के अनुसार शिक्षा हो। समाज के बड़े लोग शासन के कार्यों से जुड़े रहते हैं किन्तु जो तरुण हैं वे शासनाधीन रहते हैं। आज के तरुण ही कल के शासक होंगे। अतः उन्हें अपने स्वतन्त्र राज्य की आज्ञाओं का पालन करना सीखना आवश्यक है। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य 'उत्तम नागरिक' तथा 'उत्तम व्यक्ति' का निर्माण करना है। अरस्तू सभी नागरिकों के लिए एक समान शिक्षा योजना का स्थापना करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि अरस्तू शिक्षा प्रणाली को राज्य के नियन्त्रण में रखने के पक्षपाति हैं। नागरिकों को जीवन उसके स्वयं के जीवन तक ही सीमित रहता है अपितु राज्य के अन्य सदस्यों से जुड़ा रहता है। इस सामाजिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए अरस्तू स्पार्टा की राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा-पद्धति का समर्थन अपने शिक्षा सिद्धान्त में करता है।

5- विधि के शासन की श्रेष्ठता:- अरस्तू की दृष्टि में व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदैव श्रेष्ठ रहता है। विधि का शासन तथा समुचित व्यक्तिगत सम्पत्ति अरस्तू के आदर्श राज्य के आधार-स्तम्भ है। मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के साथ ही अरस्तू विधि के शासन की श्रेष्ठता को भी आदर्श राज्य का आवश्यक तत्व मानता है। अरस्तू प्लेटो की विधि से मुक्त दार्शनिक शासन की धारणा को दोषपूर्ण मानता है।

संक्षेप में, अरस्तू द्वारा प्रस्तुत आदर्श राज्य की यही रूप रेखा है। अरस्तू के आदर्श राज्य की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उसका चिन्तन केवल व्यवहारपरक ही नहीं, अपितु आदर्श तत्वों से भी मुक्त होता है। यही आदर्श तत्वों की समानता है जो प्लेटो और अरस्तू को, उनके विचारों में कई प्रश्नों पर असमानता होते हुए भी, उन्हें एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। दोनों ही विचारों को लक्ष्य यही कि ऐसे आदर्श राज्य की खोज की जाय जो व्यक्ति को श्रेष्ठ नैतिक जीवन की उपलब्धि करा सकें।

3.14 पॉलिटी (वैधानिक लोकतन्त्र)

अरस्तू की दृष्टि में विभिन्न प्रकार के संविधानों में पॉलिटी सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान है। पॉलिटी में मध्यम वर्ग के लोगों का बाहुल्य रहता है। अरस्तू के दर्शन में मध्य-मार्ग के प्रति गहरी आस्था है। अरस्तू की ऐसी मान्यता है कि वह राजनैतिक समाज सर्वश्रेष्ठ होता है जिनमें मध्यम वर्ग के नागरिकों

का वर्चस्व होता है। वे राज्य सुशासित रहते हैं जिनमें मध्यम वर्ग विशाल मात्रा में पाया जाता है। अरस्तू का यह दृढ़ विश्वास है कि मध्यम वर्ग राज्य का मेरूदण्ड होता है। जिस राज्य की सम्प्रभु शान्ति मध्यम वर्ग में होती है, उस राज्य में स्थायित्व होता है। उपयुक्त आधारों पर अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्य शासकों की अपेक्षा व्यावहारिकता की दृष्टि से पॉलिटी एक आदर्श शासनस व्यवस्था है क्योंकि इसमें मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता रहती है।

अभ्यास प्रश्न

1. अरस्तू को किसने “प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक कहा है”?
2. पॉलिटिक्स की रचियता कौन है ?
3. राजनीति शास्त्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का जनक किसे कहा जाता है ?
4. “स्त्री-पुरुष तथा स्वामी और दास के योग से जो समूह बनता है वही परिवार है। ” किसने कहा है?

3.15 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसके साथ ही उसने राज्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है जिसमें वह कहता है कि -राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते हैं और जब ग्राम के समुदाय बनते हैं तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य “समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।”

अरस्तू अपने समय में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं से अपने को पूरी तरह से पृथक नहीं कर पाया और दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। इस प्रकार अरस्तू दासता संबंधी विचार में प्रगतिशील है क्योंकि वह उन्हें परिवार का अभिन्न अंग भी मानता है।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों को भी बड़े ही विस्तार से प्रस्तुत करता है जिसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से यह तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिकों के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था।

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 158 संविधानों का अध्ययन कर अरस्तू ने संविधान के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं जिसमें वह 'संविधान' को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। और वह कहता है कि संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है।

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि 'न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।' इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में 'सदगुण और न्याय' पर्यायवाची है।

इसके अतिरिक्त अपने गुरु प्लेटो के विपरीत अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटो ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटो के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विषयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

अरस्तू प्लेटो के विपरीत राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता है कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है।

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने परिवर्तन की प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और क्रांति के सन्दर्भ में अपने विचार विस्तार से व्यक्त किये हैं।

अंततः उसने आदर्श राज्य की धारणा प्रस्तुत की है जिसमें उसने एक आदर्श राज्य के लिए आवश्यक तत्वों जैसे किस प्रकार की भौगोलिक संरचना हो .कितनी जनसंख्या हो और किस प्रकार की की संवैधानिक व्यवस्था हो इस पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं।

3.16 शब्दावली

1. **राजतन्त्र-** ऐसी शासन-व्यवस्था जिनमें शासन की शक्ति या प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति, अर्थात् राज या रानी के हाथों में रहती है।
2. **पॉलिटी-** ऐसी शासन-प्रणाली जिनमें शासन की शक्ति निर्धन एवं साधारण लोगों के हाथों में रहती है।
3. **सम्प्रभु-** किसी राज्य के अन्तर्गत वह व्यक्ति या निकाय जिसे देश के समस्त क्षेत्र और समस्त व्यक्तियों पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो।

3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैम्सी
2. अरस्तू
3. अरस्तू
4. अरस्तू

3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।
3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू के सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?
2. अरस्तू के राज्य तथा सरकार में क्या अंतर बताया है? अरस्तू के सरकार के वर्गीकरण का भी वर्णन कीजिए?
3. प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय की कल्पना की तुलना कीजिए तथा अपने विचार भी बताईये?
4. अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?
5. अरस्तू के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए?

इकाई -4 अरस्तू के बाद यूनानी चिन्तन एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अरस्तू के बाद यूनानी चिन्तन

4.4 नगर राज्यों का पराभव और नवीन दृष्टि

4.5 एपिक्यूरियन विचार दृष्टि

4.6 सिनिक सम्प्रदाय

4.7. सारांश

4.8. शब्दावली

4.9. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.10. संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.11. सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

4.12. निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन में प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन का प्रभाव न सिर्फ प्राचीन पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के सबसे सशक्त हस्ताक्षर के रूप में प्रतिबिम्बित है अपितु इन दार्शनिकों का प्रभाव समान रूप से सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकास में दृष्टिगत होता है। किन्तु यूनानी चिन्तन के सतत अन्वेषण की प्रक्रिया काफी गहरी रही है, जिसमें अन्य चिन्तन धाराओं का भी समानान्तर रूप से विकास हुआ, विशेष रूप से उत्तर अरस्तू के काल के बदली हुई व्यवस्थाओं में। इन चिन्तन धाराओं ने न सिर्फ एक नए चिन्तन का आयाम दिया, बल्कि प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक दर्शन द्वारा स्थापित मूलभूत मान्यताओं को भी गम्भीर चुनौती प्रस्तुत की और कालांतर के राजनीतिक दर्शन और व्यवस्थाओं को गहराई से प्रभावित करते हुए नए दृष्टिकोण स्थापित किए। इस चिन्तन के प्रमुख प्रवर्तकों में एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत इकाई एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के दर्शन और चिन्तन को समझने का प्रयास करते हुए, अरस्तू के पश्चात के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को समझने और जानने का यत्न है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- अरस्तू के पश्चात के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के विकास को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।
- इस चिन्तन के कालान्तर के राजनैतिक व्यवस्था और चिन्तन पर प्रभाव को समझ सकेंगे।
- नगर-राज्यों के पतन और नए दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
- एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचारों के बारे में जान सकेंगे।

4.3 अरस्तू के पश्चात यूनानी चिन्तन

प्लेटो और अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन वस्तुतः यूनान के नगर-राज्यों का चिन्तन और दर्शन था। इनका उद्देश्य यूनान के नगर-राज्यों का उत्थान करते हुए उन्हें पतन से बचाना था तथा उसमें रहने वाले नागरिकों के अधिकारों को स्पष्ट करते हुए, नगर-राज्यों के विकास का सहभागी बनाना था। अरस्तू के बाद यूनानी राजनीतिक चिन्तन में एक नया मोड़ आया। प्लेटो और अरस्तू का दर्शन जहाँ सैद्धांतिक रूप में उच्च कोटि का दर्शन था, वहीं उसको व्यवहारिक धरातल पर अंगीकृत करने वाले राजनेता के अभाव ने इनकी व्यवहारिकता सीमित कर दी, जो कि प्लेटो की कालांतर की कृतियों से परिलक्षित भी होता है, दूसरे उसकी सीमा नगर-राज्यों तक ही सीमित रही और यह इस परिधि से बाहर निकल नहीं पाया। यूनानी नगर-राज्य स्थानीयतावाद की संकीर्ण प्रवृत्ति, आंतरिक अव्यवस्था और परस्पर द्वेष की भावना से ग्रसित होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने का यत्न कर रहे थे। प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन, इन समस्याओं का व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। उधर रोम और मैसीडोनिया जो यूनान के पड़ोसी राज्य थे, नगर-राज्यों की व्यवस्था के विपरीत सैन्य आधारित विशाल साम्राज्य की स्थापना में लगे हुए थे। मैसीडोनिया के राजा फिलिप और उसके पुत्र सिकन्दर, जोकि अरस्तू का शिष्य था; ने नगर-राज्यों को पदाक्रांत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यूनानी नगर-राज्यों की विफलता ने इनको यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया। पराधीनता के कारण शासन कार्य में भाग न ले पाने के कारण, यूनानी मानस की दृष्टि में प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा और दर्शन अप्रासंगिक और अर्थहीन प्रतीत होने लगे। नागरिकों के लिए राज्य उत्तम जीवन की आवश्यक शर्त न होकर एक बोझ के रूप में प्रतीत होने लगा। अब ऐसे दार्शनिक विचार उत्पन्न हुए जिनकी दृष्टि में उत्तम जीवन और शुभ की संकल्पना से राज्य का कोई संबंध नहीं था। इस वैचारिक दृष्टि में आनन्द की प्राप्ति संयमित जीवन और मानसिक इच्छाओं पर प्राप्ति से ही संभव था जो कि प्राच्य दर्शन में महात्मा बुद्ध की शिक्षा के निकट था। राजनीतिक व्यवस्था की जगह, मानसिक अवस्था को उत्तम जीवन के ज्यादा निकट मार्ग के रूप में पहचाना गया।

4.4 नगर राज्यों का पराभव और नवीन प्रवृत्तियां

नए और विशाल साम्राज्यों की सैन्य आधारित संकल्पना, जिसके आधार पर महान रोमन साम्राज्य और मैसीडोनिया का अभ्युदय हो रहा था ने नगर-राज्यों के मौलिक अस्तित्व को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। नागरिकता की संकल्पना की आवश्यक शर्त, जिसके तहत नागरिकों को राज्य की गतिविधियों में आवश्यक रूप से प्रतिभाग करना था; के कल्पनातीत हो जाने के कारण नगर-राज्यों की संकल्पना भी अत्यधिक कमजोर हो गयी। प्लेटो और अरस्तू के विचार तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों के समाधान में सक्षम प्रतीत नहीं हुए जिसके परिणाम स्वरूप वैचारिक निर्वात की

स्थिति को दूर करने के लिए नए दार्शनिक अवधारणा की आवश्यकता थी, जिसे एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन ने पूरा किया। सिनिक्स और साइरेनेइक्स के राज्य विहीन अराजकतावादी दर्शन, जिसमें बुद्धि और ज्ञान के अस्तित्व को ही परम अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर, अन्य सभी भैतिकतावादी तत्वों को उससे अलग किया गया, ने भी बहुत सारे महान राजनीतिक सिद्धांतों की प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन, यद्यपि प्लेटो और अरस्तू के दर्शन से प्रभावित थे तथापि उन्होंने यूनानी सर्वश्रेष्ठता के सिद्धांत को अर्थहीन कर दिया। प्लेटो और अरस्तू के परवर्ती विचारक, उनके राज्य के आदर्श का खण्डन करने लगे और यह विचार तक प्रतिपादित कर दिया कि, यदि व्यक्ति को श्रेष्ठ जीवन जीना है और जीवन में आनन्द की प्राप्ति करनी है तो उसे राज्य से दूर रहते हुए, अपना राज्य से संबंध विच्छेद कर लेना चाहिए। उत्तर अरस्तू चिन्तन की मुख्य विशेषता जो एपिक्यूरियन और सिनिक दर्शन में मुख्य रूप से दिखता है; वह राज्य से पलायन और उसकी अवहेलना है। जीवन के परम शुभ के बारे में दोनों विचारों में विभेद होते हुए भी, दोनों का यह विश्वास था कि, सर्वश्रेष्ठ और बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो राजकीय अथवा सामाजिक जीवन में भाग न ले। ये विचार अरस्तू और प्लेटो के विचारों के ठीक उल्टा था। इन विचारधाराओं ने उत्तर अरस्तू युग के राजनीतिक जीवन में दो नई प्रवृत्तियों का विकास किया-

1. **राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप का अधिकाधिक व्यक्तिवादी होना।** इस विचारधारा के प्रतिपादकों ने प्लेटो तथा अरस्तू के 'व्यक्ति को राज्य में विलीन कर देने' के सिद्धांत को अमान्य कर दिया। इनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख के साधनों की खोज करना था जिनके द्वारा व्यक्ति अपने अधिकतम आनन्द की प्राप्ति कर सके। इन विचारकों के मत में ऐसे आनन्द की प्राप्ति में राज्य सहायक नहीं है, अतः व्यक्ति को राज्य से पृथक रहकर अपने आनन्द की प्राप्ति के साधन प्राप्त करने चाहिए।
2. **राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप का अधिकाधिक सार्वभौमिक होना।** साम्राज्यों के विस्तार के कारण विभिन्न जन समूह एक राजनीतिक व्यवस्था के दायरे में आ गए फलस्वरूप उनकी पृथकतावादी धारणा का विलोपन होता गया। इस एकीकरण और विस्तार को और अधिक विस्तार देते हुए, कुछ विचारकों ने इसे और व्यापक स्वरूप प्रदान किया जिसके मूल में मानवीय समानता की संकल्पना निहित थी। उनके लिए पूरा विश्व एक इकाई था और सभी व्यक्ति, विश्व नागरिक जिसमें सभी को बराबरी का अधिकार था, बिना किसी भेद-भाव के, राज्य की सीमाओं के भेद से भी परे। यह विचारधारा, नगर-राज्य और उसकी आदर्श नागरिकता से परे था जो विश्व-बंधुत्व की वकालत करता था। प्लेटो और अरस्तू की तुलना में इन विचारों का दार्शनिक आधार, उच्च कोटि का नहीं था तथापि इस दर्शन ने अनेक विचारधाराओं को प्रभावित किया जिसकी प्रतीति आज भी वैश्वीकरण के सिद्धांत के रूप में आंशिक रूप से दिखायी देती है।

4.5 एपिक्यूरियन विचार दृष्टि

एपिक्यूरियनवाद का प्रवर्तन 306 ई0पू0 में एथेन्स के विद्वान दार्शनिक एपीक्यूरस ने किया था, जिसके नाम से इस विचारधारा को एपीक्यूरियनवाद के नाम से जाना जाता है। एपीक्यूरस के विचारों का समर्थन प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस ने भी अपनी प्रसिद्ध कृति 'द नेचर ऑफ थिंग्स' में किया है। इस विचारधारा को 'साइरेनिसिज्म' का ही एक रूप कहा जा सकता है। एपीक्यूरियन, सॉफिस्टों की तरह ही शिक्षकों का एक सम्प्रदाय था, जो इस धारणा के प्रबल समर्थन में था कि, व्यक्ति के जीवन की श्रेष्ठता, सुखों की प्राप्ति में निहित है। इस विचार का कालांतर में अनेक चिंतकों ने समर्थन कर इसका प्रसार किया, भारतीय चिंतन में चारवाक, सुखवादी सिद्धांत के प्रबल प्रणेता माने जाते हैं। व्यक्तिगत सुखवाद का अर्थ, एपीक्यूरियन दर्शन में निषेधात्मक रूप में लिया गया है, जिसका अभिप्राय है दुख और चिन्ता से मुक्ति। एपीक्यूरियनवाद के प्रमुख विचार निम्नलिखित थे-

1. **आनन्द और सुखवाद-** एपीक्यूरियनवाद का दर्शन आनन्द और सुखवाद की धारणा का समर्थन करता है। एपीक्यूरियन के सुखवादी धारणा का परिचय देते हुए सेबाइन ने लिखा है कि, "इसका उद्देश्य भी सामान्य रूप से वही था जो अरस्तू के पूर्ववर्ती काल में सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का था। यह दर्शन भी अपने अध्येताओं के मन में व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न करना चाहता था। इस दर्शन के अनुसार श्रेष्ठ जीवन आनन्द के उपभोग में निहित है। इस दर्शन ने आनन्द का अर्थ निषेधात्मक रूप में लिया। वास्तविक प्रसन्नता तो कष्ट और चिन्ता के निवारण में है।" इस दर्शन में चिन्ताओं से निवृत्ति का भाव है। इस दर्शन द्वारा व्यक्ति को सुख संबंधी आश्वासन मिले जिन्हें वह प्लेटो और अरस्तू के जीवन के उच्च आदर्शों के सिद्धांत के बदले स्वीकार करता है। 'आनन्द ही सौभाग्यपूर्ण जीवन का आदि और अंत है'; यह विचार इस दर्शन का प्रमुख आधार था।
2. **इच्छा दुखों का कारण है-** एपीक्यूरियनवाद का सुखवाद निषेधात्मक है जो भगवान बुद्ध की तरह दुखों और चिन्ताओं के निवारण की बात करता है, जो कि मानव के अनंत इच्छाओं में निहित है। एपीक्यूरियनवाद का सुखवाद भौतिकवादी होते हुए भी संयमित है और सुख की खोज उन न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं तक ही सीमित मानता है, जो मानवीय जीवन के लिए आवश्यक है। एपीक्यूरियनवाद संयमित जीवन को ही सुख का आधार मानता है और अनियंत्रित और अमर्यादित इच्छा को समस्त दुखों का कारण।
3. **धर्म से असहमति-** एपीक्यूरियन दर्शन धर्म से अपनी असहमति इस कारण से रखता है कि, उसके अनुसार धर्म व्यक्ति के अंदर भय और भय का कारण उत्पन्न करता है (नरक/दण्ड आदि अवधारणाओं द्वारा) जो कि मनुष्य के आनंद में बाधा है। धर्म, स्वतंत्र चिन्तन को बाधित करते हुए बहुतायत अंधविश्वास और कुंठा को जन्म देते हैं, इस कारण भी धर्म मानव जीवन के आनंद के मार्ग में बाधा है।

4. **पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अलगाव-** एपीक्यूरियन दर्शन इस बात की वकालत करता है कि, एक बुद्धिमान व्यक्ति को अपने आनंद की प्राप्ति के लिए; पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से अलग रहना चाहिए अथवा उसमें न्यूनतम प्रतिभाग करना चाहिए। इस दर्शन के अनुसार, ये बंधन, आनंद रूपी उत्सव के मार्ग में पाश की तरह हैं जो व्यक्ति को निर्बाध आनन्द की प्राप्ति को अवरूद्ध करते हैं।
5. **न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण जैसी धारणा पर अविश्वास-** एपीक्यूरियन दर्शन ने न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण जैसी धारणा का तिरस्कार किया है क्यों कि ये संकल्पनाएं निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं जो व्यक्ति की स्थिति, और देशकाल परिस्थिति के कारण भिन्न भिन्न हैं। न्याय, नैतिकता, कानून और सद्गुण की अवधारणा सार्वभौमिक न होकर अलग - अलग है, जो व्यक्ति के अपने धारणा पर निर्भर करता है कि, उसके लिए न्याय अथवा नैतिकता के अर्थ क्या हैं?
6. **राज्य संविदा पर आधारित संस्था-** एपीक्यूरियन विचारक राज्य को नैसर्गिक संस्था नहीं मानते हैं। उनके अनुसार राज्य, व्यक्ति के स्वार्थ की प्रवृत्ति का दमन करने के लिए, एक सामूहिक सत्ता के रूप में सृजित किया गया है। राज्य के संबंध में एपीक्यूरियन विचार सामाजिक अनुबंध के विचारों के अग्रगामी हैं। राज्य की संकल्पना संविदा पर बनी है जो व्यक्तिगत हितों के निमित्त हुआ है। राज्य की तरह ही, राज्य से उत्पन्न अन्य संकल्पनाएं जैसे कानून, शासन, सरकार आदि भी नैसर्गिक न होकर व्यक्तिगत हितों के निमित्त ही निर्मित हुए हैं। राज्य और समाज जैसी संकल्पनाएं स्वाभाविक विकास की परिणति न होकर व्यक्तिगत हितों और सुख के कारण बने हैं। एपिक्यूरियन विचारक शासन प्रणालियों के बारे में विषया चिंतित नहीं थे, किन्तु तुलनात्मक रूप से वो राजतंत्र को शक्तिशाली और सुरक्षित शासन प्रणाली मानते थे।
7. **मानव संस्थाओं के जन्म का भौतिकवादी सिद्धांत-** एपीक्यूरियन विचारकों ने मानव संस्थाओं के जन्म और विकास के बारे में भौतिकवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। एपीक्यूरियन के विचार में मनुष्य का सहज रूप में समाज के प्रति झुकाव नहीं है अपितु उसकी एकमात्र स्वभाविक प्रवृत्ति भौतिक सुखों की प्राप्ति है। सेबाइन के अनुसार एपिक्यूरियन विचारक यह मानते हैं कि, "सामाजिक जीवन के सभी रूप उसकी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं, कला और विज्ञान, संक्षेप में समस्त मानव-संस्कृति केवल मनुष्य की बुद्धि के परिणामस्वरूप ही विकसित हुई। इनमें बाहर की किसी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं है। विशुद्ध रूप से प्राणी, भौतिक कारणों के परिणाम होते हैं।" मनुष्य ने भौतिक संसाधनों और सुख की खोज की प्रक्रिया में ही संगठित समाज की विभिन्न संस्थाओं, विधियों, विज्ञान और उपयोगी कला का सृजन किया। इन संस्थाओं और संरचनाओं के उत्पत्ति और

विकास के क्रम में ही अपनी प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग द्वारा सभ्यता का सृजन और विकास करता है।

4.6 सिनिक सम्प्रदाय

सिनिक विचारक प्लेटो और अरस्तू के समकालीन विचारक थे। सुकरात के जीवन और दर्शन ने यूनानी दर्शन में सिनिक्स सम्प्रदाय को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। सिनिक्स सम्प्रदाय के प्रणेता एन्टीस्थेनीज थे, जो सुकरात के दर्शन और चिन्तन से प्रभावित रहे। यद्यपि सिनिक सम्प्रदाय का विचार भी पलायनवादी था, लेकिन यह पलायनवाद एक भिन्न प्रकार का पलायनवाद था, जिसमें उन्होंने उन वस्तुओं का तिरस्कार किया, जिन वस्तुओं को सामान्य रूप से व्यक्ति जीवन के सुख के रूप में स्वीकार करते हैं।

यूनानी भाषा में 'सिनिक' शब्द का अर्थ कुत्ता है जो इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स को इसलिए दिया गया क्योंकि वो सामाजिक रूढ़ियों और नियमों की परवाह नहीं कर उसकी घोर उपेक्षा किया करते थे। इस सम्प्रदाय को मानने वाले विरोधी एवं विद्रोही प्रवृत्ति के थे, जिनके लिए समस्त संस्थाओं, नियमों और व्यवस्था से बढ़कर मानवीयता और मानव मूल्य था। सिनिक्स सम्प्रदाय सुकरात के आत्मज्ञान के सिद्धांत को केन्द्रीय तत्व के रूप में स्वीकार करता था। उनके लिए आत्म ज्ञान और उससे उत्पन्न चेतना ही समस्त प्रकृति को चलायमान बनाए हुए है जो निरन्तर अपनी वैचारिक और ज्ञान परिमार्जन करते हुए आगे बढ़ रही है जिसे किसी संस्था, नियम अथवा व्यवस्था के पाश में बांधना समीचीन नहीं होगा। ये वैचारिक सम्प्रदाय उग्र व्यक्तिवादी थे, जिनके लिए संस्था उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितना कि व्यक्ति। उन्होंने सभी सामाजिक भेदभावों के निराकरण पर जोर दिया। इस वैचारिक सम्प्रदाय के लोग राज्यसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे और स्वयं की पहचान एक वैश्विक नागरिक के रूप में करते थे, उनका मानना था कि इस वैश्विक जगत में जो कुछ भी प्रकृतिजन्य है, उस पर विश्व के सभी नागरिकों का बराबर अधिकार है और इस रूप में सभी व्यक्ति एकसमान हैं। सिनिक्स इसी कारण से परिवार और सम्पत्ति की धारण के भी विरोधी थे, जिसको कालांतर में प्लेटो के चिन्तन में भी, परिवार और सम्पत्ति के साम्यवाद के रूप में सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया गया है। सिनिक विचारक भ्रमणशील विचारक थे, जिनका कोई संगठन नहीं था, वो सामान्यतया भ्रमण कर के अपनी शिक्षा का प्रसार करते थे। सिनिक विचारकों ने पलायनवाद में 'सुखी जीवन' के दर्शन किए तथा वैराग्य और सरल जीवन द्वारा सुख प्राप्ति का मार्ग लोगों को दिखाया। उनकी शिक्षा का दार्शनिक आधार यह था कि बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्णतः आत्म निर्भर होना चाहिए, अर्थात् जो कुछ व्यक्ति की अपनी शक्ति, चिंतन और अपने सीमाओं के भीतर है, सुखी जीवन के लिए वही आवश्यक है, शेष बाह्य संरचनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। इस रूप में आत्म-ज्ञान का मार्ग ही सुख का श्रेष्ठ मार्ग है।

सिनिक्स बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानते थे और इसलिए इन संरचनाओं के उन्मूलन के पक्षधर थे। राज्य के साथ-साथ, उन्होंने उन समस्त संस्थाओं का विरोध किया जिसको वे आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक के रूप में स्वीकार करते थे। उनके अनुसार सद्गुण और ज्ञान, दोनों ही आंतरिक स्थितियां हैं, जिनको प्राप्त करना ही व्यक्ति के जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। नैतिक चरित्र के अतिरिक्त शेष सभी बातें व्यर्थ हैं। सभ्य समाज की समस्त संस्थाएं- सम्पत्ति, विवाह, परिवार, नागरिकता, राज्य, प्रतिष्ठा और विद्वत्ता, परम्परा और रूढ़ियां आदि सभी तिरस्कार योग्य हैं। सिनिक विचारक, मानवीय समानता के प्रबल पक्षधर थे और उसके मार्ग के समस्त बाधाओं के घोर विरोधी। प्रो० सेबाइन के विचारों में, 'सिनिकों की समानता शून्यवाद से समानता थी। यह सम्प्रदाय मानव-प्रेम अथवा सुधारवाद के सामाजिक दर्शन का आधार कभी नहीं बना, किन्तु यह सदैव सन्यास की ओर झुका रहा।' उनके लिए स्वतंत्रता और दासता का कोई मूल्य नहीं था। सिनिक सम्प्रदाय का प्रमुख प्रवर्तक डायोजीन्स कहा करता था कि, मुझे एन्टीस्थेन्स ने शिक्षा दी है कि, 'इस विशाल संसार में केवल एक ही वस्तु मेरी है- और वह है मेरे अपने विचारों का स्वतंत्र चिंतन।' सिनिक दर्शन कल्पना प्रधान दर्शन था, जिसमें ऐसे साम्यवाद और अराजकतावाद का खाका था, जिसमें समस्त संरचनाओं और व्यवस्थाओं का लोप हो गया। सिनिक दार्शनिकों का यह मत था कि, अधिकांश व्यक्ति, चाहे वे किसी भी वर्ग के हों, मूर्ख होते हैं। श्रेष्ठ जीवन केवल ज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही है। ज्ञानी व्यक्ति को घर, परिवार, नगर, राज्य अथवा कानून किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है, वह सभी स्थितियों में एक समान रहता है। सिनिक दर्शन के प्रमुख चिंतन को निम्न बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है-

1. सिनिक सम्प्रदाय ने समानता और विश्व बन्धुत्व की वकालत करते हुए विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया। मानवतावादी समानता और विश्व-बंधुत्व के विचारों ने कालांतर में इसाई धर्म और चर्च पर अत्यधिक प्रभाव डाला।
2. इस विचारधारा के केन्द्र में व्यक्ति है, इस रूप में यह विचारधारा उदारवादी चिंतन की पूर्ववर्ती विचारधारा के रूप में दिखायी देती है।
3. इस विचारधारा में राज्य, समाज, परिवार जैसी संस्थाओं के विरोध के कारण, यह अराजकतावादी भी हो जाता है जिसके केन्द्र में व्यक्ति है।
4. सिनिक विचार, विश्व-न्याय एवं विश्व-राज्य में विश्वास करता था, जिसमें राज्य की सीमाओं से परे वैश्विक नागरिक के रूप में व्यक्ति एक समान रूप से अपने प्रकृतिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए आत्मज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ सके।

अभ्यास प्रश्न

1. सिकन्दर किस महान दार्शनिक का शिष्य था ?

2. प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेशियस की रचना का क्या नाम था?
3. कौन सा विचार सम्प्रदाय बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानता था ?
4. किस विचार सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता प्रतिपादित की ?

4.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम अरस्तू और प्लेटो के मुख्य चिंतन धारा से अलग, दूसरी चिंतनधारा के बारे में जान पाते हैं। यूनान की नयी परिस्थितियों के आलोक में एपिक्यूरियन और सिनिक विचारकों के विश्व-नागरिकता और मानवतावाद की दार्शनिक संकल्पना एक क्रांतिकारी और समीचीन परिवर्तन प्रतीत होती है। आत्म ज्ञान और चेतना के विकास को ही व्यक्ति के सुख और आनन्द का आधार स्वीकार किया गया है। आनन्द, सुख और भौतिकतावाद की बात करते हुए भी संयमित और मर्यादित जीवन की वकालत करना, इस दर्शन और विचार की अद्भुत विशेषता है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात एपिक्यूरियन और सिनिक विचार दर्शन को समझने में सहायता मिलती है जिसमें मानवतावाद से लेकर व्यक्तिवाद और विश्व-नागरिकता से लेकर समतावाद तक के विचारों की प्रेरणा समाहित है। सिनिक दर्शन के राजनीतिक तत्व आज भी जीवंत बने हुए हैं जो समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं। विश्व नागरिकता और मानवतावाद के विचारों के बीज आज वैश्विक व्यवस्थाओं में दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

4.8 शब्दावली

सुखवाद- सुखवाद की धारणा व्यक्ति के सुख को सर्वोपरि मानते हुए, समस्त संस्थाओं, मान्यताओं और व्यवस्था का विकास, व्यक्ति के सुख के निमित्त मानती है।

मानवतावाद- मानवतावाद का चिंतन मनुष्य का केन्द्र में रखते हुए समस्त विचारों का प्रतिपादन करता है।

विश्व-नागरिक- व्यक्ति को किसी राज्य की सीमा में न बांधते हुए सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था के नागरिक के रूप में स्वीकार किया जाय।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सिकन्दर अरस्तू का शिष्य था।
2. रोमन कवि ल्यूक्रेशियस की रचना का नाम 'द नेचर ऑफ थिंग्स' था।
3. सिनिक विचार सम्प्रदाय बाह्य संरचनाओं को आत्म ज्ञान के मार्ग में बाधक मानता था।
4. सिनिक सम्प्रदाय ने विश्व-नागरिकता का विचार प्रतिपादित किया।

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-4, जे0 पी0 सूद

4.11 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. एपिक्यूरियन विचार के विकास में तत्कालीन यूनानी परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कथन की विवेचना करें।
2. एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचार, मानवीय समानता के सिद्धांत हैं। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
3. सिनिकस दर्शन के पलायनवादी दृष्टिकोण की विवेचना करें।
4. एपिक्यूरियन और सिनिक सम्प्रदाय के विचारों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए, उनके मध्य साम्य और विभेद को स्पष्ट करें।

इकाई - 5 संत अम्ब्रोज, आगस्टाइन एवं ग्रेगरी महान

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2. उद्देश्य

5.3संत अम्ब्रोज

5.4 संत आगस्टाइन

5.5 ग्रेगरी महान

5.6. सारांश

5.7. शब्दावली

5.8.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9.संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.10.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

5.11.निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्राचीन यूनानी चिंतन के बाद, पाश्चात्य जगत के दार्शनिक, धार्मिक और राजनैतिक बिम्ब पर जिसने सर्वाधिक गहराई से प्रभाव डाला है वह ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित ईसाई धर्म रहा। इस कालक्रम में परिस्थितियों के कारण ईसाई धर्म के चिन्तन को अलग-अलग परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण, भिन्न-भिन्न चिंतकों द्वारा अलग संदर्भ प्रदान किए गए, जिसके प्रभाव और प्रेरणा से ईसाई धर्म का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ। ईसाई धर्म के इन अलग-अलग संदर्भों ने न सिर्फ व्यक्ति के धार्मिक जीवन पर अपना प्रभाव डाला, अपितु सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। इस रूप में ईसाई धर्म के इस प्रभाव को समझने में जिन चिंतकों का नाम अग्रणी है, उनमें संत अंब्रोज, संत ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान सर्वाधिक प्रमुख हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- संत अम्ब्रोज, ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान के विचारों को समझ सकेंगे।
- ईसाई धर्म के विचार और उसके राजनीतिक प्रभाव को बेहतर समझ सकेंगे।
- यूनानी चिंतन से मध्ययुगीन राजनीतिक व्यवस्था के चरित्र के बदलाव को समझने में सहायता प्राप्त होगी।
- ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव और उसके विभिन्न चरणों को संत अम्ब्रोज, संत ऑगस्टाइन और संत ग्रेगरी महान के चिंतन के अध्ययन से सुसंगत रूप में समझने में सहायता प्राप्त होगी।

5.3 संत अम्ब्रोज

संत अम्ब्रोज का जन्म ईसा के जन्म के 340 वर्ष पश्चात हुआ जब ईसाई धर्म अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में ही था। संत अम्ब्रोज को ईसाई धर्म की लोक शक्ति और लोक कल्याण की क्षमता में अटूट विश्वास था, और सभी मनुष्यों के कल्याण की सर्वोच्च सत्ता वह ईसाई धर्म में ही निहित मानता था। संत अम्ब्रोज का मत था कि ईसाई धर्म की सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं हो सकता और समस्त सत्ता उसी ईसाई धर्म की सत्ता के अधीन है। इस धारणा के आधार पर संत अम्ब्रोज ने सम्राट की सत्ता को मानने से इंकार कर दिया। संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए कहा कि, ईसाई धर्म को सम्राट के अधीन संरक्षण की नहीं अपितु सम्राट को ईसाई धर्म के अधीन रहना चाहिए। ईसाई धर्म की सत्ता सर्वोच्च और श्रेष्ठ है, इसलिए

सम्राट भी उसी श्रेष्ठ और सर्वोच्च सत्ता के अधीन है। जिस प्रकार से प्रकृति के समस्त जीव जन्तु, मनुष्य, भौतिक, अभौतिक सब उसी की संतान है, उसी प्रकार से सम्राट भी उसी परम सत्ता की संतति है। जिस प्रकार अन्य सभी ईसाई धर्म-संघ के पुत्र हैं उसी प्रकार सम्राट भी धर्म-संघ का पुत्र है। संत अम्ब्रोज ने धर्म को सर्वाधिक महत्व और मान्यता प्रदान की और कहा कि धार्मिक मामलों में बिशप सम्राट से भी श्रेष्ठ हैं इसलिए बिशपों को सम्राट की नहीं, अपितु सम्राट को बिशप की बात माननी चाहिए। सम्राट को बिशपों पर अपना मत थोपने का यत्न नहीं करना चाहिए अपितु धार्मिक मामलों में सम्राट को बिशप की बातों का सम्मान करना चाहिए क्योंकि बिशप ही धर्म के प्रहरी हैं और धर्म सभी सत्ताओं से श्रेष्ठ। यद्यपि धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए भी संत अम्ब्रोज सम्राट की राज्य सत्ता के प्रति सचेत रहते हैं और प्रजा को सम्राट की आज्ञा अनिवार्य रूप से पालन करने को प्रेरित करते हैं। ईसाई धर्म की श्रेष्ठता और महत्ता स्थापित करते हुए, वो कहीं भी क्रांति की बात नहीं करते, अपितु बेहतर राज्य संचालन के लिए राजनैतिक क्षेत्र में सम्राट की आज्ञा को अनिवार्य मानते हैं। संत अम्ब्रोज का यह मानना था कि, प्रजा को सम्राट की आज्ञा का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि, सम्राट की आज्ञाएं, प्रजा हित में दिए जाते हैं और ईसाई धर्म का उद्देश्य भी लोक कल्याण है इसलिए उसमें कोई विरोध नहीं है। धर्म के मामले में चूंकि बिशप श्रेष्ठ है और उसके प्रहरी है, इसलिए लोक हित में सम्राट को उनकी बातों और मतों को यथेष्ट सम्मान देना चाहिए। संत अम्ब्रोज का सम्राट से विरोध, सिर्फ ईसाई धर्म की स्वतंत्रता और स्वायत्तता को स्थापित करने को लेकर था, वह यह नहीं चाहता था कि ईसाई धर्म-संघ के अधिकारों पर किसी भी प्रकार का अतिक्रमण या आघात हो, चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो। एक बार सम्राट वैलेनाटोनियम द्वारा एरियन सम्प्रदाय के उत्सव के लिए गिरजाघर मांगने पर संत अम्ब्रोज ने स्पष्ट रूप से कहा कि, "राजमहल सम्राट के अधीन हैं और गिरजाघर बिशपों के। गिरजाघरों पर सम्राट का कोई अधिकार नहीं है।" इसके परिणामस्वरूप सम्राट और ईसाई धर्म संघ के बीच संघर्ष की लकीर बन गयी, जो कई बार प्रस्फुटित हुयी। ईसाई धर्म संघ के समर्थकों ने अनेको बार संत अम्ब्रोज के इस मत को अपने दृष्टिकोण और मत के समर्थन में प्रयुक्त किया। सम्राट की प्रशासन तथा शासन संबंधी प्रभुता को स्वीकार करते हुए भी नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में बिशपों के मत को अंतिम रूप से स्वीकार किया, जिसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार सम्राट को भी नहीं था। इस प्रकार संत अम्ब्रोज ने धर्म और बिशपो की स्वतंत्रता और स्वायत्तता स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

संत अम्ब्रोज (340-397 ई0), जो कि मिलान का बिशप था, का राजनीतिक विचार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है, जिसने चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म की बढ़ती हुई आत्म-चेतना तथा शक्ति को अभिव्यक्त किया। संत अम्ब्रोज ने धर्म के विषय को राजनैतिक सत्ता के अधीन मानने

से इंकार कर उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने में भूमिका निभायी जो कालांतर में मध्ययुगीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार की विशिष्टता के रूप में स्थापित हुआ।

ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव ने पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में एक नए तत्व का समावेश किया, जिसका क्रांतिकारी और दूरगामी प्रभाव आज भी राजनीतिक व्यवस्थाओं में किसी न किसी रूप में दिखायी देता है। यूनानी चिंतन में कभी भी संस्थाबद्ध धर्म की कल्पना नहीं की गयी, जिसका कार्यक्षेत्र राज्य से सर्वथा भिन्न हो; इस चिंतन में राज्य और समाज ही एकमात्र संस्थागत अवधारणा थी। ईसाई धर्म ने इससे विपरीत धर्म को संस्थानिक स्वरूप प्रदान करते हुए, स्टोइक विचारधारणा को आगे बढ़ाने का काम किया जो विश्वव्यापी कानून, मानव समानता और विश्व नागरिकता के सिद्धान्तों पर बल देता है। ईसाई धर्म के विस्तार ने विभिन्न जातियों को इन सिद्धान्तों के आधार पर एक सूत्र में बांधने का काम किया। संत अम्ब्रोज ने यह कभी नहीं कहा कि, नागरिकता का आदेश नहीं मानना चाहिए, पर उसने यह अवश्य कहा कि, धर्माचार्यों का यह अधिकार और कर्तव्य है कि वे आचारों के संबंध में लौकिक शासकों का नियमन करते रहें।

5.4 संत ऑगस्टाइन (354-430ई0)

संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की स्वायत्तता और स्वतंत्रता का जो प्रतिपादन किया, उसे एक व्यापक आयाम और स्वरूप उसके महान शिष्य ऑगस्टाइन ने प्रदान किया। उसका जन्म 354 ई0 में अफ्रीका में टेगस्टे नामक नगर में हुआ था, उसके पिता का नाम पैट्रीसियस तथा माता का नाम मोनिका था। जीवन के आरम्भिक वर्षों में घर पर शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात वह आगे की शिक्षा हेतु कार्थेज गया जहाँ पर वह मैनिकियन सम्प्रदाय का सदस्य बन गया और लगभग नौ वर्षों तक इसका सदस्य बना रहा। मैनिकियन सम्प्रदाय में इसकी जिज्ञासाओं का समाधान न हो पाने पर वह इसकी सदस्यता त्याग कर रोम चला गया, जहाँ वह अलंकारशास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। रोम में ऑगस्टाइन, संत अम्ब्रोज के संपर्क में आया, जिसके प्रभाव में उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। ईसाई धर्म को स्वीकार करने के पश्चात उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसमें उसके अपने धार्मिक और आध्यात्मिक विचार दिखायी देते हैं। ऑगस्टाइन का दर्शन मुख्यतः उसके महान ग्रन्थ “*De Civitate Dei*” में निहित है जो अंग्रेजी अनुवाद में *The City of God* के नाम से प्रसिद्ध है। ऑगस्टाइन को रोमन चर्च फादर्स में महानतम समझा जाता था, जिसका आने वाले विचारकों पर व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। सेबार्डिन का कहना है कि उसके लेख विचारों की खान हैं, जिनमें से बाद के विचारकों ने खोदकर विचार निकाले हैं। ईसाई चर्च के इतिहास में संत पाल के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान, संत ऑगस्टाइन को प्राप्त है। ऑगस्टाइन के विचारों के तीन प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होते हैं -

1. प्रथम यह स्पष्ट करना कि, रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ था।
2. द्वितीय, ईसाई संघ को शक्तिशाली बनाना और उसका राज्य स्थापित करना तथा
3. तृतीय, ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाए जाने वाले आरोपों का खण्डन करना और विपक्षियों से रक्षा करना।

ऑगस्टाइन का महान ग्रंथ 'द सिटी ऑफ गॉड' 22 खण्डों में विभाजित है जिसमें प्रथम दस में ईसाई धर्म की आलोचना के विरुद्ध रक्षा की गई और शेष 52 खण्डों में ईश्वर की नगरी के स्वरूप की व्याख्या मिलती है। इस पुस्तक में ऑगस्टाइन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि, ईसाइयत रोम को नष्ट किए जाने से नहीं बचा सकी, लेकिन लोगों के कष्टों के निर्मूलन में उसने अवश्य ही सहायता दी और युद्ध की भयावहता कम करने का प्रयत्न किया। ऑगस्टाइन के अनुसार रोम पर आक्रमण ईश्वर की मर्जी से ईश्वर की नगरी की बुनियाद रखे जाने के लिए हुआ।

ऑगस्टाइन का वैचारिक जगत में प्रवेश संक्रमण के महत्वपूर्ण काल में हुआ, जब रोम अपने सर्वाधिक संकट के दौर से गुजर रहा था और उत्तर-पूर्व से होने वाले बर्बर जातियों (हूणों) के आक्रमण, उसकी आठ शताब्दियों से स्थापित शान्ति व्यवस्था को ही छिन्न भिन्न नहीं कर रहे थे, अपितु ईसाइयत के लिए भी एक गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर रहे थे। हूणों ने रोम की सेना को 373 ई0 में परास्त कर दिया और आधुनिक सर्बिया तथा बल्गेरिया के प्रदेशों में बस गये जहाँ उन्होंने दो वर्षों तक लूट-पाट और बर्बरता मचायी, इसके बाद वे आगे बढ़ गए और रोम के विभिन्न प्रांतों में 20 वर्षों तक लूट-पाट करते रहे। ईसाई धर्म के विरोधी, ईसाई धर्म के प्रभाव को इसके लिए उत्तरदायी ठहराने लगे, उन्होंने कहा कि, 'रोम का विनाश ईसाई काल में हुआ है।' उनके अनुसार प्राचीन देवताओं मंगल, बृहस्तति आदि के परित्याग से ही रोम पर यह गम्भीर संकट उत्पन्न हुआ है। ईसाई विचारक इसका खण्डन करते किन्तु उनमें भी घोर निराशा व्याप्त कर गयी थी। ईसाई चर्च में आपस में फूट तथा पारस्परिक कलह ने भी इसमें अपनी भूमिका निभायी। पद, पुरस्कार, सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए संघर्ष ने पादरी समाज को व्याकुल कर दिया। इन परिस्थितियों में संत आगस्टाइन ने ईसाई धर्म को वैचारिक चेतना से इस निराशा भरी परिस्थितियों से उबारने का ही कार्य नहीं किया अपितु, ईसाई धर्म में एक नयी सोच, चेतना और ऊर्जा का संचार कर इसे प्रतिस्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आगस्टाइन ने इस धारणा पर बल दिया कि, साम्राज्यों का उत्थान या पतन देवताओं की प्रसन्नता या प्रकोप के कारण नहीं होता है अपितु ये समस्त बातें दैविक योजना और उद्देश्य की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। उसके अनुसार न तो रोमन साम्राज्य की सम्पन्नता और विजय, रोमन देवताओं की प्रसन्नता के वरदान थे और न ही उसके पतन का कारण ईसाई धर्म की दुर्बलता थी। ऑगस्टाइन

मानव इतिहास के प्रवाह को ईश्वर-इच्छा की अभिव्यक्ति के रूप में देखता था, जिसमें उसका विश्वास था कि, इस पृथ्वी पर समस्त वस्तुएं, क्रिया कलाप आदि, ईश्वर के नगर की स्थापना की ओर जा रही हैं। उसके अनुसार साम्राज्यों का विनाश मनुष्यों की वासनाओं के कारण होता है और रोम का पतन इसलिए हुआ क्योंकि उसके शासक सत्ता के लोभ से बंधे हुए थे। रोम का पतन दैविक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए और रोमवासियों को मूर्तिपूजा धर्म के दोष से हटाकर प्रभु दया के लिए तैयार करने के लिए आवश्यक था। ऑगस्टाइन के अनुसार पाप और पुण्य में सदैव द्वंद चलता है, जिसमें पुण्य की सदा विजय होती है। यह विचार भारतीय धर्म चिंतन के सुर और असुरों के संग्राम के समानांतर दिखायी देती है।

दो नगरों का सिद्धान्त

ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ में दो प्रकार के नगरों का विवरण दिया है-

1. सांसारिक नगर

2- आध्यात्मिक नगर या ईश्वरीय नगर।

उसके अनुसार 'मानव प्रकृति के दो रूप हैं- आत्मा और शरीर, इसलिए मनुष्य इस संसार का भी नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मनुष्य के लौकिक हित उसके शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और उसके पारलौकिक हित उसकी आत्मा से संबन्ध रखते हैं।' ऑगस्टाइन ने मनुष्य की द्विमुखी प्रवृत्ति को इसके मूल में स्वीकार किया, जिसमें वह सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की प्रवृत्ति के साथ निवास और संघर्ष करता है। मानव मात्र के हित और स्वार्थ सांसारिक भौतिक से भी जुड़े हुए हैं और वहीं आत्मा के अस्तित्व के कारण वह आध्यात्मिक भी होता है। वस्तुतः मानव जीवन इन दोनों प्रवृत्तियों के द्वंद और संघर्ष से आगे बढ़ती है, जिसकी अंतिम नियति उस ईश्वरीय स्वरूप आत्मा में समाहित होना है। शरीर होने के कारण वह इस सांसारिक लौकिक राज्य का सदस्य है, जो तृष्णा से प्रेरित होकर कार्य करता है, वहीं वह आत्मा के कारण उस 'ईश्वरीय राज्य' का भी सदस्य है, जिसकी सदस्यता आत्मा की मुक्ति के लिए अनिवार्य है। ऑगस्टाइन के शरीर और आत्मा का यह दो नगरों का सिद्धांत हिन्दू धर्म दर्शन के स्वर्ग लोक और मृत्यु लोक की धारणा तथा गीता में श्री कृष्ण के द्वारा दिए उपदेश जिसमें शरीर और आत्मा को अलग-अलग करते हुए समस्त को उस पारलौकिक सत्ता के अधीन किया गया है, के काफी निकट प्रतीत होता है। ऑगस्टाइन, मानव इतिहास को इन दो राज्यों तथा समाजों के बीच में संघर्ष की एक कहानी समझता था जिन्हें वह क्रमशः 'आसुरी राज्य' तथा 'दैविक राज्य' ; कहकर पुकारता था। इस प्रकार के संघर्ष का वर्णन हिन्दू धर्म दर्शन में 'देवताओं और असुरों के बीच संघर्ष' के रूप में अनेक संदर्भों में कहा गया है। ऑगस्टाइन के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप, सांसारिक या 'आसुरी राज्य' नाशवान है जबकि ईश्वरीय राज्य चिर स्थायी और पारलौकिक है। ऑगस्टाइन के अनुसार रोमन राज्य का पतन भी इसी सांसारिक राज्य की नश्वरता के कारण हुआ, जिससे हम अपनी कमियों को दूर कर ईश्वरीय राज्य की धारणा को पहचानते हुए, उस ईश्वरीय राज्य के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। ऑगस्टाइन के कल्पना के

‘ईश्वरीय राज्य’ में समस्त मानव जाति नहीं आती, अपितु उसमें वे ही लोग आते हैं जो इस चर्च के सदस्य हैं या थे। ऑगस्टाइन के इस प्रवर्तन के पीछे संभवतः यह प्रेरणा रही होगी कि, ईसाई धर्म और चर्च की स्वीकारोक्ति ज्यादा से ज्यादा हो सके और ईसाई धर्म का प्रचार हो, किन्तु चर्च की सदस्यता या ईसाई चर्च ही ईश्वरीय राज्य नहीं है।

ईश्वरीय राज्य में देवगण तथा वे स्वर्गीय आत्माएं भी सम्मिलित हैं जो इस पृथ्वी को छोड़ चुकी हैं, इस रूप में इसका स्वरूप चर्च से कहीं अधिक व्यापक है। तथापि ईश्वरीय राज्य का चर्च से इस रूप में घनिष्ठ संबंध है कि, चर्च की शिक्षाएं ही ईश्वरीय राज्य पर जाने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। ईश्वरीय राज्य जहाँ पारलौकिक और अमूर्त है, वहीं चर्च उसका लौकिक और मूर्त स्वरूप है। फॉस्टर ने इन दोनों के संबंधों का वर्णन बड़े स्पष्ट रूप में किया है ‘‘चर्च ईश्वरीय नगर का वह विभाग है जिसमें वे सब सम्मिलित हैं, जो कि अभी अपनी विश्व-यात्रा ही कर रहे हैं और जिसमें वे सब, जो कि ‘ईश्वरीय राज्य’ के सदस्य हैं, गुजर चुके हैं।’’ ऑगस्टाइन ने विश्वव्यापी ईसाई समाज के प्रस्ताव के लिए एक उर्वर भूमि तैयार की। ऑगस्टाइन ने यह कहा कि, प्रभु अपनी दया, चर्च के माध्यम से प्रेषित करते हैं और इस रूप में चर्च को ईश्वरीय राज्य और सांसारिक राज्य के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित करते हैं, जो कालांतर में सत्ता के सर्वाधिक शक्तिशाली केन्द्र के रूप में दिखायी देते हैं। ऑगस्टाइन के विचार ने प्राचीन विचार को पूर्णता प्रदान करते हुए, एक नए विचार और युग का सूत्रपात किया। ‘पवित्र रोमन साम्राज्य’ की समस्त अवधारणा ‘ईश्वरीय राज्य’ के ऊपर ही आधारित है। ऑगस्टाइन का यह दृढ़ विश्वास था कि, ‘समस्त शक्तियां ईश्वर की दी हुई हैं।’ उसका यह भी विश्वास था कि, शासन में बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनों नगरों को अलग मानते हुए भी दोनों को अलग नहीं किया। सांसारिक जीवन में ये दोनों समाज एक-दूसरे से मिले हुए हैं। वे केवल अंतिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होंगे। ऑगस्टाइन ने चर्च की श्रेष्ठता का समर्थन करते हुए लौकिक राज्य की अपेक्षा चर्च की महत्ता स्थापित की तथा आने वाले युग के राजनीतिक विचार को एक नया आयाम प्रदान किया।

ईश्वरीय नगर की विशेषताएं (न्याय एव शांति)

ऑगस्टाइन के अनुसार न्याय तथा शांति ईश्वरीय राज्य के गुण हैं, इसलिए उनको केवल उसी समाज में प्राप्त किया जा सकता है जो कि ईश्वरीय राज्य का प्रतीक है; उन्हें ऐसे समाज में प्राप्त नहीं किया जा सकता जो आसुरी राज्य का प्रतिनिधि हो। इस रूप में ऑगस्टाइन राज्यों में न्याय और शांति स्थापित करने के लिए प्रेरित करते हैं। ऑगस्टाइन के अनुसार ईसा के पूर्व के मूर्तिपूजक राज्यों में न्याय खोजना व्यर्थ है।

संत ऑगस्टाइन के ईश्वरीय नर की दो प्रमुख विशेषताएं (5) धर्म अथवा न्याय एवं (2) शांति हैं। ऑगस्टाइन, धर्म को व्यक्ति के कर्तव्य पालन से जोड़ते हैं तथा धर्म अथवा न्याय को व्यवस्था के

पर्यायवाची के रूप में स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार धर्म या न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन के निर्वाह में निहित है। न्याय की यह संकल्पना, प्लेटो की न्याय की संकल्पना, जो कि कर्तव्य पालन में निहित है; के निकट प्रतीत होती है। ऑगस्टाइन का धर्म का सिद्धांत किसी सीमा में बंधा न होकर व्यापक है, जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज और लौकिक राज्य तक सम्मिलित हैं।

ऑगस्टाइन ने अपने सार्वभौमिक समाज को शांति के साम्राज्य का प्रतीक माना है। उसके द्वारा शांति के दो रूप माने गए हैं-

- 1.-सांसारिक शांति और
- 2-आध्यात्मिक शांति

सांसारिक शांति से तात्पर्य नियमित ढंग से जीवन के व्यवस्थापन से है, अर्थात् सांसारिक जीवन में सामंजस्य का होना, जिसमें व्यक्ति अपने सांसारिक हितों और उद्देश्यों का समायोजन करते हुए आगे बढ़ता है। परंतु आध्यात्मिक शांति का अर्थ व्यापक है, जिसमें ईश्वर में समाए हुए मनुष्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। जब लौकिक चेतना पारलौकिक चेतना के साथ एकाकार हो जाय, तब इस प्रकार की शांति स्थापित होती है। सांसारिक शांति का क्षेत्र संकुचित है, जबकि आध्यात्मिक शांति का क्षेत्र काफी व्यापक है। सांसारिक शांति व्यक्ति के स्थूल स्वरूप को संतुष्ट करती है किन्तु आध्यात्मिक शांति, व्यक्ति के चेतना के स्तर को संतुष्ट करती है। सांसारिक शांति विचार स्वतंत्रता पर एक प्रतिबंध लगाता है, जबकि आध्यात्मिक शांति चेतना का विस्तार करते हुए उसे स्वतः क्रियाशील बनाती है। आध्यात्मिक शांति व्यक्ति के आत्मिक शुद्धिकरण का मार्ग प्रशस्त करते हुए उसे दिव्य स्वरूप प्रदान करती है। ऑगस्टाइन की शांति, संपूर्ण विश्व की एक ईश्वरीय व्यवस्था है।

राज्य तथा सरकार

संत ऑगस्टाइन परंपरागत ईसाई विचार को स्वीकार करता है कि, राज्य को ईश्वर ने मनुष्य के कल्याण और उसकी समस्याओं के समाधान के साधन के रूप में स्थापित किया है, अतः राज्य की आज्ञा का पालन करना मनुष्य का धर्म है। मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों के कारण ही राज्य का निर्माण ईश्वर द्वारा किया गया है, अतः प्रत्येक राजा का यह दायित्व है कि, वह व्यक्ति को बुरी प्रवृत्तियों से दूर कर सन्मार्ग पर ले चले। राजा के इस दायित्व बोध के साथ ही उसे व्यक्ति को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए राज्य की समस्त शक्तियां प्राप्त होती हैं, जिसमें दण्डकारी विधान भी सम्मिलित है। ऑगस्टाइन का राज्य की दण्डकारी शक्ति का समर्थन, मनुस्मृति के राजा को दण्ड की शक्ति प्रदत्त करने की तरह है, जिसमें दण्ड को धर्म के अधीन करते हुए, राज्य की शक्तियों पर नैतिक नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। ऑगस्टाइन के अनुसार, राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु राज्य शैतान का राज्य है और राजा का यह नैतिक दायित्व है कि वह प्रजा को इस पाप के साम्राज्य से दूर ईश्वर के साम्राज्य की तरफ ले चले जो कि नागरिक कर्तव्यों के पालन से ही संभव है।

राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है। किन्तु मनु और ऑगस्टाइन में एक महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि, मनु जहाँ राज्य और राजा के दैवीय स्वरूप स्वीकार करते हुए, उसके विरोध की अनुमति किसी भी दशा में नहीं देते, वहीं ऑगस्टाइन यह मत स्पष्ट रूप से रखता है कि, जो आज्ञाएं धर्म के विरुद्ध हो, उनका पालन करने के लिए जनता बाध्य नहीं है, केवल उन्हीं आज्ञाओं का पालन किया जाना है जो धर्म सम्मत हों।

यूनानी दार्शनिकों और सिसरो आदि के इस विचार से ऑगस्टाइन ने असहमति प्रकट की है कि, राज्य का आधार न्याय है। ऑगस्टाइन के अनुसार, सांसारिक राज्य पर शैतान के स्वामित्व के कारण उसमें न्याय नहीं रह सकता, न्याय की स्थापना ईश्वर के राज्य अथवा दैवीय राज्य में ही संभव है। राज्य, चर्च के लिए इस रूप में आवश्यक है कि, चर्च की भूमि और भवन की व्यवस्था राज्य के द्वारा ही की जाती है।

सम्पत्ति एवं दासता सम्बंधी विचार

ऑगस्टाइन ने सम्पत्ति के अधिकारों का समर्थन करते हुए इसे एक परंपरागत संस्था माना है। ऑगस्टाइन की मान्यता है कि, सम्पत्ति के अधिकारों की प्राप्ति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है और सम्पत्ति के अभाव में व्यक्ति सांसारिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन नहीं कर सकता। शांति और व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से निजी सम्पत्ति आवश्यक है, किन्तु किसी भी व्यक्ति को उतनी ही रखने का अधिकार है, जितनी उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार ऑगस्टाइन सम्पत्ति के नैतिक नियमन के साथ सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उसके साथ जोड़ते हुए, सम्पत्ति के नकारात्मक प्रभावों को कम करने का यत्न करता हुआ प्रतीत होता है। व्यक्ति की आवश्यकता से अधिक की सम्पत्ति का उपयोग जन हित और जन कल्याण के उद्देश्यों के लिए होना चाहिए। ऑगस्टाइन द्वारा दासों को निजी सम्पत्ति के ही एक रूप में स्वीकार किया गया है, अतः उसने भी यूनानी दर्शन के चिंतकों की तरह दास प्रथा का समर्थन किया है। ऑगस्टाइन के अनुसार दासता, मनुष्य के पाप कर्मों का परिणाम है जो ईश्वर द्वारा दण्ड के रूप में दिया गया है, जिससे वह सन्मार्ग के मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त कर सके। मनुष्य जो पाप करता है, उसके प्रतिकार के रूप में उसे दासवृत्ति करनी पड़ती है। स्वामी की शुद्ध मन से सेवा ही उसे दास व्यवस्था से मुक्त कर सकती है। इस रूप में संत आगस्टाइन दासता को एक नैतिक-धार्मिक आधार के रूप में स्वीकार करता है जो कि व्यक्ति के अंतःकरण की शुद्धि से संबंधित है।

ऑगस्टाइन का प्रभाव

संत ऑगस्टाइन के विचारों ने यूरोपिय विचार जगत को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। संत ऑगस्टाइन के विचारों ने ईसाई धर्म को वो मजबूत आधार प्रदान किया जिससे कालांतर में सम्पूर्ण

यूरोप सहित पूरे विश्व में ईसाई धर्म ने अपना अस्तित्व स्थापित करते हुए, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं को गहराई से प्रभावित किया। ऑगस्टाइन का सबसे महत्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का सिद्धांत है, जिसे कैथोलिक और प्रोटेस्टन्ट दोनों ही सम्प्रदायों ने एक समान रूप से स्वीकार किया है। ऑगस्टाइन के विचारों ने मध्ययुग को तो प्रभावित किया ही, साथ ही साथ आधुनिक युग भी उसके प्रभाव से अछूता न रह सका। ईसाई धर्म की आधारशिला को तार्किक परिणति के साथ स्थापित करने में ऑगस्टाइन की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही। गेटेल (हीस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट:503) ने ऑगस्टाइन के दर्शन के महत्व को दर्शाते हुए लिखा कि, “ऑगस्टाइन के कार्य का महत्व यह था कि, उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर संकट में एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की, उसके अस्तित्व को स्पष्टता और अपनापन दिया और उसके उद्देश्य को आत्म-चेतना मूलक बनाया।”

5.5 ग्रेगरी महान (540-604ई0)

संत अम्ब्रोज, और ऑगस्टाइन की परम्परा में अंतिम महत्वपूर्ण नाम संत ग्रेगरी महान का आता हैं। चर्च की स्वायत्तता और उसकी सर्वोच्चता के विचार को संत ग्रेगरी महान ने भी अपना समर्थन देते हुए आगे बढ़ाया। रोम के बिशप पद की शक्ति, गरिमा और गौरव बढ़ाने का श्रेय संत ग्रेगरी महान को जाता है। रोम के अत्यंत सम्भ्रांत और संपन्न कुल में जन्में, ग्रेगरी को उनके कानून की शिक्षा के कारण प्रारम्भ में रोम का प्रधान शासक चुना गया, किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात वह ईसाई साधु हो गया और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति और भूमि सात मठों को स्थापित करने हेतु दे दी। 590 ई0 में जब वह पोप चुना गया, उस समय इटली एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य की दशा अत्यंत गंभीर एवं शोचनीय रही। इटली के आंतरिक द्वंद जिसमें लाम्बार्ड लोग उत्पात मचा रहे थे, सेक्सन से इंग्लैण्ड परेशान था, ईसाईयत का हास हो रहा था। बिशप भी नैतिक पतन के शिकार हो गए थे। इन परिस्थितियों में संत ग्रेगरी रोम का कर्णधार बना रहा, जिसने लाम्बार्डों के खिलाफ, इटली की रक्षा करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका में न्याय तथा सुशासन के समर्थक के रूप में उसकी ख्याति में अत्यधिक विस्तार हुआ, जिसके प्रभाव से रोमन चर्च की प्रतिष्ठा बढ़ गई।

शासकों की दुर्बलता से उत्पन्न इटली की आंतरिक संघर्षों में बढ़ोत्तरी ने ग्रेगरी को राजनैतिक कर्त्तव्यों के लिए उन्मुख किया। उसने मध्य इटली की शासन व्यवस्था, अपने अधीन लेते हुए इटली के पादरियों को अनेक लोक कल्याण के कार्यों को करने हेतु प्रभावकारी परामर्श प्रदान किया। इटली के सम्राट ने पहले ग्रेगरी के परामर्श को मानने से इंकार कर दिया, किन्तु कुछ समय पश्चात उसने लिखा कि, “मैं उस पवित्रतम पोप का विरोध कैसे कर सकता हूं जो सार्वभौम चर्च को अपनी आज्ञाएं देता है।” संत ग्रेगरी ने पोप की प्रभुता और प्रभाव का व्यापक विस्तार कर दिया तथा पोप की शक्ति को व्यापक तौर पर स्वीकार्य बनाने में अपनी भूमिका निभायी। ग्रेगरी के हाथ में चर्च और

राज्य दोनों की शक्ति थी, तथापि उसने राज्य को चर्च के अधीन नहीं किया, अपितु राजाज्ञा के पालन का समर्थन किया। ग्रेगरी ने अपने ग्रंथ 'पैस्टोरल रूल' में इस बात पर विचार किया है कि, अपने अनुयायियों को किस प्रकार की शिक्षा दें ? इस पुस्तक में यह भी जोर देकर कहा कि, प्रजाजनों को न केवल अपने शासकों की आज्ञाओं का पालन ही करना चाहिए, बल्कि उन्हें अपने शासकों के जीवन की न तो आलोचना करनी चाहिए और न ही उसके उसके संबंध में कोई निर्णय ही देना चाहिए। शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट से बड़ा केवल ईश्वर है और कोई नहीं। शासक के कार्य अंतिम रूप से ईश्वर तथा उसकी अंतरात्मा के बीच में है। इस प्रकार ग्रेगरी ने सम्राट को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए भी उसके ऊपर नैतिक नियंत्रण स्थापित करने की चेष्टा करते हुए उसे ईश्वर की सत्ता के अधीन करता है।

अभ्यास प्रश्न

1. यह किस संत का विचार था कि, ईसाई धर्म को सम्राट के अधीन संरक्षण की नहीं, अपितु सम्राट को ईसाई धर्म के अधीन रहना चाहिए ?
2. सिटी ऑफ गॉड के रचयिता कौन हैं ?
3. संत अम्ब्रोज कहां का बिशप था ?
4. किस विचारक ने यह मत स्थापित करने का यत्न किया कि, रोमन साम्राज्य का पतन , ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ?
5. सिटी ऑफ गॉड ग्रंथ कितने खंडों में है?
6. संत ग्रेगरी द्वारा रचित ग्रंथ का क्या नाम है?

5.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हमें यूनानी चिंतन के पश्चात के हुए तीव्र बदलावों तथा सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। एक धर्म के रूप में ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव और उसके विभिन्न चरणों को संत अम्ब्रोज, संत ऑगस्टाइन और संत ग्रेगरी महान के चिंतन में चरणबद्ध रूप से दृष्टिगत होता है।

5.7 शब्दावली

बिशप- ईसाई धर्म के धर्म गुरु।

सांसारिक नगर- संत ऑगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा जिसमें लौकिक राज्य को पाप के नगर अथवा सांसारिक नगर की संज्ञा दी गयी है। यह अवधारणा हिन्दू धर्म के पृथ्वी को पाप लोक के रूप में मानने की अवधारण से मिलती जुलती है।

ईश्वरीय नगर- संत ऑगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित अवधारणा जिसमें लौकिक राज्य के अतिरिक्त ईश्वर के लोक अथवा अध्यात्मिक नगर की परिकल्पना की गयी है। यह अवधारणा हिन्दू धर्म के स्वर्ग की अवधारणा से मिलती जुलती है।

पोप- ईसाई धर्म के सर्वोच्च धर्म गुरु एवं विवेचक जो धर्म की व्याख्या करते हैं तथा यह माना जाता है कि वे ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में कार्य कर रहे हैं जिनका कार्य सभी को धर्म के मार्ग पर ले चलना है।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. संत अम्ब्रोज, 2. संत ऑगस्टाइन, 3. मिलान, 4. संत ऑगस्टाइन, 5. सिटी ऑफ गॉड ग्रंथ 22 खंडों में है 6. पैस्टोरल रूल (Pastoral Rule)

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-5, जे0 पी0 सूद

5.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, गेटेल

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. संत अम्ब्रोज ने ईसाई धर्म की प्रभुता और स्वायत्तता स्थापित की। इस कथन की समीक्षा करें।
2. संत ऑगस्टाइन के सांसारिक नगर एवं ईश्वरीय नगर की धरण स्पष्ट करते हुए रोमन साम्राज्य पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करें।
3. संत ऑगस्टाइन के संपत्ति और दासता संबंधी विचारों की व्याख्या करें।
4. न्याय तथा शांति ईश्वरीय गुण है। ऑगस्टाइन के इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं?
5. ग्रेगरी महान द्वारा प्रतिपादित चर्च और राज्य के प्रति विचारों पर समीक्षात्मक टिप्पणी करें।

इकाई - 6 मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2. उद्देश्य

6.3. मध्ययुगीन चिन्तन की पृष्ठभूमि

6.4. मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं

6.5. सारांश

6.6. शब्दावली

6.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.8. संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.9. सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

6.10. निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

रोमन साम्राज्य के उत्तरार्द्ध की अवस्था में उसकी क्षीण और मलीन होती पृष्ठभूमि के मध्य तीव्र गति से बहुत से परिवर्तन दृष्टिगत हुए जो लम्बे अंतराल तक (लगभग 6500 वर्षों तक) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के केन्द्रीय तत्व रहे, जिसे सामान्य रूप से मध्ययुग की श्रेणी में रखा जाता है। सामान्यतया ट्यूटन जातियों की पश्चिम रोमन साम्राज्य पर विजय की घटना को 'मध्ययुग के प्रारम्भ' का संकेत माना जाता है। मध्ययुगीन राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन जितना ही बदलावों को अपने साथ लाया, उतना ही वह अस्पष्ट भी रहा। मध्ययुग की समयसीमा की अनिश्चितता भी इसके वैचारिक अस्पष्टता में झलकती है। इन स्थितियों में मध्ययुग में हो रहे बदलावों को उनके सामाजिक बदलावों की पृष्ठभूमि में समझना आवश्यक प्रतीत होने लगता है। मध्ययुग; प्राचीन और आधुनिक युग के बीच एक सेतु की तरह है जो विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और फलतः राजनीतिक परिवर्तनों का साक्षी है। सामान्य रूप से ईसा मसीह के जन्म से लेकर मैकियावेली तक के काल को मध्य युग के रूप में जाना जाता है। मध्ययुग के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन; आधुनिक युग के आधार के रूप में रहे जिसकी नींव पर आधुनिक राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं विकसित हुईं। ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के साथ ही पाश्चात्य जगत में धर्म एक संस्थानिक स्वरूप में दिखायी देने लगा। मध्य युग के सामाजिक और राजनैतिक संरचनाओं को सबसे ज्यादा यदि किसी तत्व ने प्रभावित किया तो वह ईसाई धर्म रहा। ईसाई धर्म के आविर्भाव ने यूनानी और रोमन प्रभाव के ऊपर अपना प्रभाव और वर्चस्व स्थापित कर नवीन सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- मध्य युगीन सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझ सकेंगे।
- मध्य युग पर ईसाई धर्म के राजनीतिक प्रभाव को बेहतर समझ सकेंगे।
- सामंतवाद के विकास और प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे।
- आधुनिक युग के विकास की पृष्ठभूमि को सुसंगत रूप में समझने में सहायता प्राप्त होगी।

6.3 मध्ययुगीन चिन्तन की पृष्ठभूमि

रोम में विशाल राजतंत्र और ईसाई धर्म की स्थापना दोनों ही समकालीन और समानांतर घटनाएं हैं, जिनसे मध्ययुग की दिशा निर्धारित हुयी। ईसाई धर्म द्वारा स्टोईक दर्शन के तत्वों को अंगीकृत करने के कारण, रोम में ईसाई धर्म के प्रसार को काफी सहायता प्राप्त हुयी, क्योंकि रोमन व्यवस्था स्टोईक दर्शन से काफी हद तक प्रभावित थी। प्रारम्भ में ईसाई धर्म का प्रभाव निम्न वर्ग तक ही सीमित रहा, किन्तु कालांतर में ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव, चर्च की मजबूत होती स्थिति और सम्राटों की क्षीण होती स्थिति ने शासक और उच्च वर्ग को भी रणनीतिक और राजनैतिक तौर पर बाध्य किया कि वो ईसाई धर्म की शरण में आ जाएं। कालांतर में यह रोम के राजकीय धर्म के रूप में स्थापित हो गया। ईसाई धर्म ने यूनानी चिन्तन के दासता के सिद्धांत के समर्थन के विपरीत, स्टोईक दर्शन के मानवीय समानता के सिद्धांत को आधार बनाते हुए, उसका प्रसार किया जिसको तत्कालीन परिस्थितियों में बहुत बल प्राप्त हुआ और बहुतायत में लोग इसकी ओर आकृष्ट हुए। मध्ययुग के प्रवाह को निर्धारित करने वाली शक्तियां निम्नवत दिखायी देती हैं-

1. रोमन विचारधारा की शक्ति, 2. ईसाई धर्म और चर्च की शक्ति, 3. बर्बर जातियों की शक्ति, 4. सामंतवाद तथा, 5. राष्ट्रियता की भावना का अभ्युदय।

इनके अतिरिक्त भी कुछ और तत्वों की पहचान की जा सकती है, लेकिन सामान्य रूप से ये तत्व ही मध्ययुगीन व्यवस्था के आधार रहे, जिसने उसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। यहूदी विचारकों का प्रभाव भी कुछ हद तक मध्ययुगीन व्यवस्था पर दृष्टिगत होता है।

रोमन साम्राज्य के विकास ने मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला। रोमन राजनीति, स्टोईक दर्शन से बहुत प्रभावित रही जिसने रोम में ईसाई धर्म के विकास के लिए उर्वर भूमि उपलब्ध करायी। चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बर्बर ट्यूटन जातियों को रोमन साम्राज्य रोक पाने में विफल रहा। ट्यूटनों ने रोमन शासन व्यवस्था को ही छिन्न भिन्न नहीं किया, अपितु उसकी सामाजिक संरचनाओं को भी गहरा आघात पहुँचाया। ट्यूटनों के बीच किसी कुशल शासक के अभाव अथवा संभवतः उनकी राजनैतिक दृष्टि (जिसमें अलग-अलग जाति समूहों की अपनी व्यवस्था होती) के कारण, रोम में वो अपनी शासन सत्ता स्थापित नहीं कर सके। सम्राट कॉन्स्टेन्टीन ने रोम से अपनी राजधानी हटाकर कुस्तुनतुनिया (वर्तमान टर्की) में बना ली। ट्यूटनों की राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव यद्यपि रोम की जनता पर शुरूआती रूप में दिखायी नहीं देता तथापि कालांतर में पाश्चात्य राजनीतिक धारा में व्यक्तिवाद, सामंतवाद और कुछ हद तक लोकतंत्र भी इसके प्रभाव और परिणाम के रूप में परिलक्षित होता है।

रोमनों ने यहूदियों से जो कुछ लेकर पाश्चात्य जगत को दिया, वह प्लेटो और अरस्तू की दर्शन धारा नहीं थी, अपितु स्टोइक दर्शन के विश्वव्यापी प्रकृतिक कानून और विश्व नागरिकता के सिद्धांत थे। इसी सिद्धांत की अभिव्यक्ति के रूप में विशाल रोमन साम्राज्य दिखायी देता है जो एशिया माइनर से लेकर भूमध्य सागर और उत्तरी सागर के मध्य रहने वाली जातियों को एक विश्वव्यापी कानून तथा संस्कृति के अधीन ले आया। इसका नकारात्मक पक्ष यह रहा कि, विजित जातियों को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए रोम की कानून व्यवस्था, अनुशासन और एकता पर बल देना पड़ा जिसमें कहीं न कहीं लोकतंत्र की भावना हाशिए पर चली गयी। यूनानी और रोमन वैचारिक भिन्नताओं के बावजूद एक सूत्र दोनों में साझा दिखायी देता है जिसके कारण इसे यूनानी-रोमन संस्कृति का नाम दिया गया। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि, धर्म उनके लिए राज्य का ही एक उपकरण था। व्यक्ति के जीवन में उनकी सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओं से पृथक, धार्मिक हितों को पृथक और स्वतंत्र स्थान प्रदान नहीं किया गया। यूनानी रोमन युग की यह मौलिक धर्मनिरपेक्ष एकता ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ शनैः शनैः क्षीण होती गयी, जो आधुनिक युग में मैकियावेली के द्वारा प्रतिपादित धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के साथ पुनः अस्तित्व में आयी। ईसाई धर्म ने स्पष्ट रूप से मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक हितों में एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची।

यूनानी दर्शन के कल्पनावादी तत्व और विभेदकारी सामाजिक व्यवस्था (दास व्यवस्था) के समर्थन के विचार तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध न हो सके और कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत न कर सके जो तत्कालीन जनमानस की आकांक्षाओं और हितों के राजनीतिक विकल्प के रूप में स्थापित हो सके। इन परिस्थितियों में स्टोइक दर्शन के मूलभूत तत्वों जो कि, मानवीय समानता, बंधुत्व और विश्व-नागरिकता पर अवलम्बित था को एक आध्यात्मिक स्वरूप ईसाई धर्म के आवरण में प्राप्त हुआ। बर्बर जातियों के अत्याचार के मध्य ईसाई धर्म द्वारा प्रेम और बंधुत्व की बात आम जनमानस में एक आशा की किरण जगाती थी। ईसाई धर्म ने स्पष्ट रूप से मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक जीवन के मध्य एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची। शारीरिक और भौतिक हितों तथा आत्मिक और आध्यात्मिक हितों का अलगाव कर अलग अलग व्यवस्था की वकालत करते हुए आध्यात्मिक पक्ष के प्रभुत्व को ईसाई धर्म ने स्थापित किया। आध्यात्मिक पक्ष पर अत्यधिक बल देने के कारण ही कालांतर में चर्च और पोप का राजनैतिक अस्तित्व गहराई से स्थापित होता चला गया और पोप तथा चर्च, परोक्ष शासन के तंतु और तंत्र विकसित करते चले गए।

यूनानी चिन्तन के पराभव के साथ ही यूनानी चिंतन से प्रभावित प्रचलित सामाजिक व्यवस्था में भी आमूल बदलाव दिखायी देता है। यूनानी चिंतन जिस कारण से कालांतर में अपनी प्रासंगिकता खोता गया, वह था बर्बर जातियों का रोमन और यूनानी सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था पर आक्रमण। बर्बर जातियों ने आक्रमण के द्वारा न सिर्फ रोमन प्रभुत्व को चुनौती दी, अपितु पुरानी व्यवस्थाओं को

छिन्न भिन्न करते हुए एक नयी प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को जन्म दिया। यूरोप के वर्तमान राज्यों में अधिकांश का निर्माण इन्हीं जातियों के द्वारा हुआ जिसमें इनके राजनैतिक विचारों की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इन जातियों में प्रमुख रूप से फ्रैंक, सैक्सन, एंगल, लाम्बार्ड, वर्मेण्डियन, वडाल, सुएव आदि जातियां थीं। इन जातियों के राजनैतिक और रणनीतिक विचारों के रोमन विचारधारा के सम्मिश्रण और क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था का जन्म हुआ, जो मध्ययुग की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही। इन जातियों द्वारा जिन प्रमुख राजनीतिक विचारों को सृजित किया गया, वो निम्नवत हैं-

1. **वैयक्तिक स्वतंत्रता-** ट्यूटन जाति के लोग, योद्धा प्रवृत्ति के होने के कारण, राज्य की तुलना में व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करते थे। राज्य उनके लिए गौण था, जबकि व्यक्ति महत्वपूर्ण संभवतः इसी कारण से किसी एक केन्द्रीय सत्ता का विकास नहीं हो सका। इन जातियों में अपराधी को दण्ड देने का अधिकार भी उसी व्यक्ति को था जिसके विरुद्ध अपराध हुआ हो। इन जातियों के प्रारम्भिक शासन व्यवस्था में लोकतंत्र के तत्व दिखायी देते हैं।
2. **प्रतिनिधि शासन व्यवस्था-** यूरोप में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था का विचार भी ट्यूटन जातियों की देन है। प्रारम्भ में ट्यूटन लोगों की दो प्रकार की सभाएं थीं- राष्ट्रीय सभा और स्थानीय प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीय सभा में जन-जाति के समस्त स्वतंत्र सदस्य होते थे। यह सभा मुखिया के चयन, प्रस्तावों पर निर्णय तथा कभी-कभी विशेष मुकदमों की सुनवाई और निर्णयन का कार्य करती थी। राजतंत्र की स्थापना के साथ ही इस सभा का लोप हो गया। स्थानीय प्रशासन और व्यवस्था के निमित्त, स्थानीय प्रतिनिधि सभा कार्य करती थी। इन संस्थाओं का अस्तित्व, मध्ययुग के अंत तक विद्यमान रहा। इंग्लैण्ड में संसदीय व्यवस्था के विकास के पीछे, इसकी प्रेरणा महसूस की जा सकती है।
3. **वैध शासन और कानून का विचार-** इन जातियों की मान्यता थी कि, कानून का निर्माण जनता की इच्छा पर है अर्थात् विधि पूर्ण शासन वह है जो जनता की इच्छा द्वारा हो, राज्य द्वारा आरोपित न हो। कानून राज्य का विषय न होकर, जाति विशेष या कबीले की विषय वस्तु हुआ करता था, जो उसे एकता के सूत्र में बांधने का कार्य भी करता था। इन जातियों ने रोमन कानून को स्वीकार न करके, अपनी प्रचलित परम्परा और रीतियों को ही कानून का आधार माना।

मध्ययुगीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की जितनी स्पष्ट पहचान सामंतवाद के रूप में है उतना किसी और तत्व के रूप में नहीं है। सामंतवाद, बर्बर जातियों और रोमन साम्राज्य के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुआ। सेबाइन के अनुसार, 'सामंतवादी संस्थान मध्ययुग पर उतने ही पूर्ण रूप से छाए हुए थे, जितने

नगर-राज्य प्राचीन काल परा” सामंतवाद की प्रवृत्ति न सिर्फ पाश्चात्य जगत की विशेषता थी, अपितु इसके लक्षण सर्वव्यापी रूप में हर ओर दिखायी देते हैं। रोमन साम्राज्य के पराभव से उत्पन्न अराजकता ने सामंतवाद के विकास के लिए उर्वर भूमि प्रदत्त की। नौवीं शताब्दी से लेकर औद्योगिक विकास और आधुनिक युग की शुरुआत तक सामंतवाद की प्रवृत्ति, मध्ययुग की विशेषता रही। वस्तुतः यूरोप में व्याप्त अराजकता को दूर कर पाने में सक्षम सत्ता के अभाव और व्याप्त अराजकता के मध्य, सामंती व्यवस्था ने शान्ति व्यवस्था को बनाए रखने और जनजीवन को सुरक्षा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सी0 एफ0 स्ट्रांग के शब्दों में, ”सामंतवाद, एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह कुछ हद तक सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतः स्वीकृत रूप में व्यवस्थित था।”

सामंतवाद का संगठन, एक पिरामिड की भाँति था जिसके शीर्ष पर राजा हुआ करता था तथा जिसके नीचे प्रधान सामंत, उप-सामंत आदि हुआ करते थे। उप-सामंत के अधीन छोटे सामंत हुआ करते थे। ड्यूक काउंट, मार्गेन, ऑर्कबिशप, बिशप आदि प्रधान सामंत हुआ करते थे जो सीधे राजा के अधीन हुआ करते थे, वे अधिकांशतः उन्हीं शतों पर काउंट, वाई-काउंट आदि उप सामंतों को भूमि का वितरण किया करते थे, जिन शतों पर राजा उन्हें अपनी भूमि विभाजित करता था। उप-सामंत भी उन्हीं शतों पर यह भूमि नाइट्स कहलाने वाले छोटे सामंतों में वितरित कर दिया करते थे।

सामंतवाद की प्रमुखतः दो प्रवृत्तियां विद्यमान थीं - एक था राजनीतिक और दूसरा आर्थिक। राजनीतिक सामंतवाद विकेन्द्रीकरण के रूप में प्रकट हुआ जिसके अंतर्गत सुरक्षा, न्याय, सैन्य व्यवस्था आदि महत्वपूर्ण कार्य राजा द्वारा न होकर सामंतों द्वारा हुआ करते थे। सामंतवाद की आर्थिक प्रवृत्ति भूमि के वितरण और उससे प्राप्त राजस्व संग्रह तथा अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं से संबंधित था। इस व्यवस्था में भूमि जोतने वाला उस भूमि को किसी दूसरे से जागीर के रूप में प्राप्त करता था। भूमि का वास्तविक स्वामी राजा हुआ करता था, शेष उस भूमि को राजा से क्रमानुक्रम में प्राप्त किया करते थे। सामंतवादी व्यवस्था में जनता का राजा से और राजा का जनता से कोई सीधा संबंध नहीं होता था। सामंतवादी व्यवस्था में सामंती दरबार का विशेष महत्व हुआ करता था जो महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय के साथ ही अधिपति (राजा) और सामंतों के मध्य विवादों की सुनवाई और निपटारा किया करता था। सामंती दरबार, सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक सामंत को यह गारण्टी देता था कि, विशेष करारों या चार्टरों और कानून के अनुसार उसके मामले की सुनवाई की जाएगी। इस रूप में सामंतवाद ही मध्ययुग के सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था का केन्द्र बना रहा जिसने कालांतर में आधुनिक युग की अनेक व्यवस्थाओं को प्रभावित करते हुए नवीन संरचनाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

मध्ययुग के राजनैतिक चिन्तन को राष्ट्रीयता की भावना ने भी गहराई से प्रभावित किया। जिन प्रदेशों में सांस्कृतिक और भाषायी समानताएं विद्यमान थीं वहां राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के प्रयत्न दिखायी देने लगे। चर्च और पोप जिन कारणों से एक राजनैतिक विकल्प के रूप में विद्यमान थे, वो कमियां स्वयं उनमें दिखायी देने लगीं। चर्च और पोप के मानवीय सिद्धांतों यथा प्रेम, भ्रातृत्व आदि को हाशिए पर करने और मानवीय जीवन में अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण, मजबूत राज्य और राष्ट्र की महत्ता पुनः स्थापित हुई और आम जनमानस के मानस पटल पर राष्ट्रीयता की भावना का विकास बहुत तीव्र गति से हुआ।

6.4 मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं-

यद्यपि मध्ययुग को अंधकार और निस्तेज युग की संज्ञा दी जाती है तथापि कोई नवीन वैचारिक दार्शनिक प्रगति न होने के बावजूद, यह सर्वथा निष्फल नहीं रहा। मध्ययुग की पृष्ठभूमि में ही आधुनिक काल के अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन दिखायी देते हैं- चाहे वह वैचारिक हो अथवा भौतिक। मध्ययुग ने यूरोपीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हुए आधुनिक युग का शिलान्यास किया। पाश्चात्य जगत के विकास में मध्ययुग की भूमिका का सुंदर वर्णन प्रो० आडम्स ने इस प्रकार किया है: "मध्ययुग का कार्य प्राथमिक रूप से प्रगति नहीं था, बल्कि विविध जातीय तथा परस्पर विरोधी तत्वों में से, जोकि इसे प्राचीन काल से मिले थे, एक जैविक रूप से एकताबद्ध तथा सजातीय संसार का निर्माण करना था, और इस प्रकार इसने उस उन्नति और प्रगति के लिए आवश्यक स्थिति जुटाई जो कि प्राचीन काल वालों के लिए संभव नहीं था।" मध्ययुग की प्रमुख विशेषताओं को निम्नवत पहचाना जा सकता है-

1. **केन्द्रीय सत्ता का अभाव** - मध्ययुगीन व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि, यूनानी राजचिंतन की विफलता और रोमन साम्राज्य की कमजोरियों के फलस्वरूप जो अव्यवस्था और संक्रमण का दौर प्रारम्भ हुआ वह बर्बर जातियों के अत्याचार और उनकी राजनैतिक दृष्टि के कारण और अधिक अस्त व्यस्त हो गया। बर्बर जातियों की व्यक्ति केन्द्रित महत्ता और जाति समूहों को महत्व देने के कारण राज्य की स्थिति गौण हो गयी। बर्बर जातियों के मध्य किसी कुशल शासक की कमी, रोमन साम्राज्य की कमजोरी, चर्च और पोप के बढ़ते हुए प्रभाव, सामंतों की शक्तिशाली स्थिति आदि कुछ ऐसे कारण रहे, जिनके फलस्वरूप केन्द्रीय सत्ता का विकास नहीं हो पाया। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में मध्ययुग की व्यवस्थागत संरचना जो एक मजबूत राजनीतिक तंत्र की स्थापना करता, शनैः शनैः कमजोर होता चला गया।

2. **अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण** - रोमन साम्राज्य के एक लम्बे शांति के दौर के पश्चात अशान्ति और अव्यवस्था ने पूरे यूरोपीय जगत को अपने ग्रास में ले लिया। यूनानी राजनैतिक चिंतन की विफलता से उपजा हुआ क्षोभ, रोमन साम्राज्य की विलासिता और उसकी कमजोरियों के कारण दुर्दान्त बर्बर जातियों को रोक पाने की विफलता और बर्बर जातियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचार और आक्रमण ने पूरे पाश्चात्य जगत में अशान्ति और अव्यवस्था का वातावरण स्थापित कर दिया। इस अशान्ति और अव्यवस्था की स्थिति के कारण मध्ययुग में किसी भी रूप में राजनीतिक चेतना और सशक्त राजनीतिक सामर्थ्य का विकास नहीं हो पाया जो मध्ययुग को एक सकारात्मक राजनीतिक दिशा दे सके।
3. **धर्म की श्रेष्ठता एवं चर्च तथा पोप का प्रभुत्व** - यूनानी चिन्तन के पराभव और संक्रमण काल के मध्य ईसाई धर्म के अभ्युदय ने जो आशा की किरण आम जन-मानस में जगायी, वह एक बेहतर जीवन की उम्मीद में अपना प्रभाव तीव्र गति से स्थापित कर पाने में सफल ही नहीं रही अपितु राजनैतिक और सामाजिक स्तरों पर भी अपना प्रभुत्व गहराई से स्थापित किया। बर्बर जातियों के आक्रमण और अत्याचारों के बावजूद, ईसाई धर्म का प्रसार तीव्र गति से हो रहा था। दूसरे संदर्भों में बर्बर जातियों के आततायी व्यवहार ने इसके पुष्पित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इतना ही नहीं, अपितु शनैः शनैः बर्बर जातियां भी ईसाई धर्म के प्रभाव में आती चली गयीं।

प्रारम्भ में चर्च का संगठन पूर्णतया स्थानीय प्रकृति का था और इसका स्वरूप भी काफी हद तक लोकतांत्रिक था। रोम के स्थानीय क्षेत्रों में चर्च तथा बिशप प्रभावशाली होते जा रहे थे। प्रारम्भिक अवस्था में चर्च और पोप सम्राट के प्रश्रय के अधीन थे किन्तु कालांतर में सम्राट की स्थिति कमजोर होने, सम्राट कॉन्सटेन्टाइन के कुस्तुनतुनिया चले जाने के फलस्वरूप, पश्चिम रोम में और धीरे धीरे पूरे यूरोप में चर्च और पोप का प्रभाव निरंतर बढ़ता चला गया। चर्च और पोप; पारलौकिक और आध्यात्मिक विषयों के इतर राज्य और उसके लौकिक मामलों में प्रभावी भूमिका में आ गए। पोप सम्राट के धार्मिक सलाहकार की स्थिति से प्रभावी और वास्तविक शासक की भूमिका में आ गए। इन स्थितियों में रोम का बिशप सर्वाधिक शक्तिशाली भूमिका में आ गया और इसी के अनुरूप चर्च के केन्द्रीय संगठन का गठन और विस्तार होने लगा। रोमन चर्च, अन्य प्रादेशिक एवं स्थानीय चर्चों को आर्थिक सहायता भी देता था, इस प्रकार धीरे धीरे वह समस्त चर्चों का प्रधान चर्च बन गया। चर्च के सिद्धांतों और नियमन के निमित्त एक चर्च सरकार की स्थापना हो गयी, जिसमें धार्मिक विवादों पर अंतिम अपीलिय निर्णय रोम का बिशप देता था जो चर्च परिषद की सलाह से कार्य किया करता था। रोमन बिशप की बढ़ती हुई शक्ति के कारण उसे पोप के पद से विभूषित किया गया। रोमन साम्राज्य की एकता की धारणा धीरे

धीरे रोमन चर्च की एकता में परिणीत हो गयी। लोम्बार्ड जातियों को पराजित करने में सफलता और शार्लमैन को रोम का सम्राट घोषित करने के पश्चात चर्च की शक्ति में अत्यधिक विस्तार हो गया। शार्लमैन की मृत्यु के पश्चात, रोम की स्थिति पुनः कमजोर होने लगी। 962 ई0 में जर्मनी के राजा ओटो द्वारा इटली पर अधिकार कर लेने पर, पोप ने ओटो को रोम का सम्राट घोषित कर दिया, जिसके साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना हो गयी। चर्च और पोप के बढ़ते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप मध्ययुग के अधिकांश कालक्रम में स्वतंत्र राजनैतिक चिंतन के विकास का मार्ग अवरूद्ध हो गया।

4. **क्रमबद्ध राजनीतिक विचारों का अभाव** - डनिंग ने लिखा है कि, मध्ययुग अराजनीतिक था। इसी कथन को गैटल ने और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मध्ययुग अनिवार्यतः इन अर्थों में अराजनीतिक था कि राजनीतिशास्त्र और राजदर्शन को शोध का अलग अलग विषय नहीं माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि राजसत्ता, मुख्यतः धर्मसत्ता के अधीन थी।

राजनीतिशास्त्र और सिद्धांत के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा, कालांतर में धर्मसत्ता का असहिष्णु होना रहा। ईसाई धर्म के अंधविश्वास के विरुद्ध कोई भी नयी बात कहने और लिखने का साहस नहीं था; धर्म ने स्वतंत्र विचारधारा पर एक अघोषित प्रतिबंध लगा दिया था। नवीन विचारधारा के अभाव में कोई नयी दृष्टि और नयी विचार सृजनात्मकता बाहर नहीं आ पायी। इन स्थितियों में वैचारिक क्रमबद्धता का अभाव, इस युग में हर क्षेत्र में दिखायी देता है और राजनीतिक चिंतन भी इसका अपवाद नहीं रहा। इन्हीं कारणों से वर्षों तक कॉपरनिकस अपना वैज्ञानिक मत कि, पृथ्वी अपनी धुरी पर घुमती है, प्रकट नहीं कर सका। ब्रूनो, गैलिलियो जैसे तमाम वैज्ञानिक इस मध्ययुगीन कट्टरता की भेंट चढ़ गए। पोप ने ऐसे सत्यों के अध्ययन तथा भाषणों पर प्रतिबंध लगा दिया जो कि ईसाई धर्म ग्रंथों तथा बाइबिल के विपरीत हों। इस प्रकार स्वतंत्र विचार चेतना को दबा दिया गया। स्वतंत्र वैचारिकी के अभाव में राजनीतिक विचारों का क्रमबद्ध विकास नहीं हुआ, अपितु अनेक प्राचीन विचारों को ही नए स्वरूप में देखा गया।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों की पद्धति पर्यवेक्षणात्मक नहीं थी। इसका आशय यह है कि वे वास्तविक दशाओं का अध्ययन करके समस्याओं का समाधान निकालने का प्रयत्न नहीं करते थे। मध्ययुगीन विचारकों पर धार्मिक विचारों का प्रभाव परिलक्षित था, जिसके कारण अलग-अलग परिस्थितियों के आलोक में अलग-अलग धार्मिक संदर्भों और विचारों के आधार पर समाधान प्रस्तुत करने के कारण वैचारिक तारतम्यता का अभाव दिखायी देता था, जिसके कारण मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन एक क्रमबद्ध और व्यवस्थित स्वरूप में नहीं आ सका। राजनीतिक विचारों की भिन्न भिन्न स्थितियों के कारण उसके भिन्न भिन्न स्रोत भी रहे जिसमें प्रमुख रूप से (6) बाइबिल (2)

यूनानी और रोमन विचार तथा (3) ईसाई पादरियों के लेख/निर्देश आदि प्रमुख रहे। इस प्रकार मध्ययुग की विचार पद्धति अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, अनालोचनात्मक, अपर्यवेक्षणात्मक और एकांगी रही। राज्य और राजनीति के सिद्धांत और व्यवहार में बड़ा अंतर आ गया।

5. **धर्म और राज्य का संघर्ष (दो तलवारों का सिद्धांत)** - यूनानी तथा रोमन राजनैतिक विचारों के अंतर्गत राज्य और धर्म के बीच कोई भेद नहीं था और व्यक्ति के निष्ठा का एकमात्र केन्द्र राज्य था। इसका एक कारण यह भी था कि, जिन देवताओं की अराधना यूनानी-रोमन किया करते थे वो राज्य के देवता हुआ करते थे। रोम में ईसाई धर्म के प्रभाव और विस्तार तथा कालांतर में संत आगस्टाइन द्वारा प्रतिपादित दो नगरों के सिद्धांत ने लौकिक और पारलौकिक सत्ता के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दिया, जो कालांतर में लौकिक सत्ता के मामले में भी चर्च के बढ़ते हुए प्रभाव का कारण बना। ऑगस्टाइन ने दैवीय सत्ता की प्रभुता को राज्य की सत्ता के ऊपर स्थापित किया और धीरे धीरे चर्च सरकार और पोप की भूमिका बढ़ती चली गयी। मध्ययुग में मानव की इस द्विविध निष्ठा के सिद्धांत का राजनीतिक चिंतन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। चर्च के बढ़ते हुए प्रभाव और हस्तक्षेप के फलस्वरूप राज्य और धर्म में प्रत्यक्ष और परोक्ष संघर्ष, मध्ययुग की विशिष्टता रही, जिस दो तलवारों के सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है। दो तलवारों के सिद्धांत का सबसे अधिक अधिकारपूर्ण वर्णन पोप गैलेसियस प्रथम ने किया है, जिसकी धारणा थी कि धर्म सिद्धांत के विषय में सम्राट को अपनी इच्छा चर्च के अधीन रखनी चाहिए, ऐसे विषयों में उसका कर्तव्य पादरियों से कुछ सीखना है, उन्हें सिखाना नहीं; सांसारिक विषयों के संबंध में पादरियों को सम्राट के बनाए कानूनों का पालन करना चाहिए। द्विधा निष्ठा का परिणाम यह हुआ कि, चर्च राज्य हो गया और राज्य चर्च हो गया, जिसमें कालांतर में राज्य की स्थिति गौण हो गयी।

अभ्यास प्रश्न

1. ईसाई धर्म किस दर्शन से प्रभावित था ?
2. किस ईसाई धर्मोपदेशक ने दो नगरों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया ?
3. सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने अपनी राजधानी रोम से हटा कर कहाँ स्थापित की ?
4. सामंतवाद की दो प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं ?
5. दो तलवारों के सिद्धांत का प्रमुखता से प्रतिपादन किसने किया ?
6. किस राजा को रोम का सम्राट घोषित करने के साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना मानी जाती है ?

6.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हमें यूनानी चिंतन के पश्चात के हुए तीव्र बदलावों तथा सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को समझने में सहायता प्राप्त होती है जिनसे मध्ययुग का प्रादुर्भाव माना जाता है। तीव्र सामाजिक बदलावों के संदर्भ में ईसाई धर्म ने किन कारणों और परिस्थितियों में अपना प्रभाव और प्रभुत्व स्थापित किया; उसके विभिन्न कारणों को जान पाने में सहायता प्राप्त होती है। इस इकाई के अध्ययन से ही विभिन्न बर्बर जातियों और रोमन-यूनानी विचारों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाली नवीन व्यवस्था को समझने में सहायता प्राप्त होती है। सामंतवाद की प्रवृत्तियों और कारणों की पड़ताल के साथ ही आधुनिक युग के विकास की पृष्ठभूमि को भी जानने में सहायता प्राप्त होती है। इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम समग्रता में मध्ययुग को जान और समझ पाते हैं।

6.6 शब्दावली

बिशप- ईसाई धर्म के धर्म गुरु।

सामंतवाद- सामंतवाद, बर्बर जातियों और रोमन साम्राज्य के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के रूप में विकसित एक संरचना था। सामंतवादी व्यवस्था में संगठनात्मक ढांचा एक पिरामिड की तरह था, जिसके सर्वोच्च शिखर पर राजा और अंतिम पायदान पर जनता हुआ करती थी।

राष्ट्रीयता- एक समान भाषायी और सांस्कृतिक समरूपता वाले जातियों को एकता के सूत्र में पिरोकर एक निश्चित भूभाग के प्रति सर्वोच्च निष्ठा जागृत करना राष्ट्रीयता है।

पोप- ईसाई धर्म के सर्वोच्च धर्म गुरु एवं विवेचक जो धर्म की व्याख्या करते हैं तथा यह माना जाता है कि वे ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में कार्य कर रहे हैं जिनका कार्य सभी को धर्म के मार्ग पर ले चलना है।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ईसाई धर्म स्टोइक दर्शन दर्शन से प्रभावित था।
2. संत अम्ब्रोज ने दो नगरों के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
3. सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन ने अपनी राजधानी रोम से हटा कर कुस्तुनतुनिया में स्थापित की।
4. सामंतवाद की दो प्रमुख प्रवृत्तियां राजनीतिक और आर्थिक सामंतवाद के रूप में रहीं।
5. पोप गैलेसियस प्रथम ने दो तलवारों के सिद्धांत का प्रमुखता से प्रतिपादन किया।

6. जर्मनी के राजा ओटो (व्जजव) को रोम का सम्राट घोषित करने के साथ ही पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना मानी जाती है।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी (हिन्दी अनुवाद), सेबाइन
2. राजनीतिक विचारों का इतिहास, प्रभु दत्त शर्मा
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, एन्सिएन्ट एण्ड मेडिवल, वोल्यूम-6, जे0 पी0 सूद
4. मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन, गुप्ता एवं चतुर्वेदी

6.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. ग्रीक फिलॉस्फी, बर्नेट
2. ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी, बार्कर
3. हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थॉट, गेटेल

6.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. मध्ययुग संक्रमण और अंधकार का युग था। इस कथन की समीक्षा करें।
2. मध्ययुग की विशेषताओं का विवेचन करते हुए, चर्च के प्रभाव पर टिप्पणी करें।
3. सामंतवाद की प्रवृत्ति लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास की पूर्वपीठिका थी। इस कथन की समीक्षा करें।
4. दो तलवारों के सिद्धांत की व्याख्या करें।
5. मध्ययुगीन प्रवृत्तियां, आधुनिक युग के विकास का आधार थीं। इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

ईकाई 7: थॉमस एक्विनास

इकाई की रूपरेखा

- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 उद्देश्य
- 7.3 पृष्ठभूमि
 - 7.3.1 मध्यकाल का परिचय
 - 7.3.2 जीवन वृत्त, कार्य और अध्ययन पद्धति
- 7.4. थॉमस एक्विनास के राजनीतिक विचार
 - 7.4.1 मानव प्रकृति एवं समाज की रूपरेखा
 - 7.4.2 राज्य का सिद्धान्त
 - 7.4.3 विधि का सिद्धान्त एवं प्रकार
 - 7.4.4 धर्म और राजसत्ता का समन्वय (थॉमस एक्विनास एवं महान संश्लेषण)
 - 7.4.5 दासता एवं संपत्ति संबंधी विचार
 - 7.4.6 एक्विनास मध्य युग के अरस्तु के रूप में
- 7.5 सारांश
- 7.6 शब्दावली
- 7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 7.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 7.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 7.10 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

थॉमस एक्विनास को मध्ययुग के सबसे महान राजनीतिक एवं धार्मिक विचारक के रूप में देखा जाता है। उन्होंने अरस्तू, सेंट आगस्टाइन, और अन्य धर्मशास्त्रियों के परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय स्थापित किया और एक संगठित और क्रमबद्ध तात्त्विक प्रणाली (Systematic Philosophical Framework) में रूपांतरित किया इसलिए उन्हें एक विद्वतावादी (Scholastic) और समन्वयवादी (synthesizer) दार्शनिक माना गया है। प्रो. डनिंग उन्हें सबसे महान विद्वतावादी मानते हैं, जबकि एम. बी. फोस्टर ने उन्हें “विश्व का सबसे व्यवस्थित विचारक” कहा है क्योंकि

उनका योगदान पूरे मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन के समेकन और प्रतिनिधित्व के रूप में विशेष महत्व रखता है।

7.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई में आप थॉमस एक्विनास के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के आप थॉमस एक्विनास के विचारों के दार्शनिक आधार को जानेंगे।
- आप थॉमस एक्विनास के राजनीतिक विचार और मध्यकाल में उनके प्रभाव को समझेंगे।

7.3 पृष्ठभूमि

7.3.1 मध्यकाल का परिचय

मध्यकाल ईशा से मैकियावेली तक के डेढ़ हजार वर्ष की काल को माना जाता है। धर्म की प्रधानता और आध्यात्मिक विचार एवं प्रथाओं के आधिक्य के कारण इसे श्रद्धा का युग (age of faith) के रूप में जाना जाता है। राजनीतिक चिंतन की अपेक्षा के कारण इस काल के विचारकों को भी राजनीतिक विचारकों की श्रेणी में नहीं रखा जाता। तत्कालीन विचारों के त्रुटिपूर्ण, अपर्यवेक्षणशील, अव्यवस्थित तथा अशुद्ध शैली के कारण राजनीतिक विचारों पर इतिहास लिखने वालों ने इसे अंधा युग (dark ages) की संज्ञा दी। प्रगति के रूप में मध्य युग में धर्म मूर्ति पूजा उपासना अनेक केंद्रों से हटकर एक ईश्वर की मान्यता पर केंद्रित हुई। मध्यकाल में समाज एवं शासन से संबंधित कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. **केंद्रीय सत्ता का पतन एवं सामंतवाद के प्रसार द्वारा ग्राम-सभ्यता का विकास** - इस काल में लगातार बरबर जातियों (barbarian tribes) के आक्रमण के कारण रोमनों द्वारा स्थापित केंद्रीय सत्ता का पतन हुआ। पूरा यूरोप छोटे-छोटे टुकड़ों में बट गया और शासन क्षेत्रीय सामंतों और सरदारों के हाथों में चला गया। सामंतवाद के प्रचार प्रसार में स्थानीय राष्ट्रवाद का भी बड़ा योगदान रहा।
2. **अराजकता और समाज जीवन पर उसका प्रभाव** - निरंतर होने वाले आक्रमणों के कारण आम जनमानस की प्रवृत्ति सामाजिक होने के बजाय एकाकी हो गई। धर्म, गिरिजाघर और मठों की ओर लोगों के आकर्षण का कारण यह भी था कि उन पर आततायी आक्रमण नहीं करते थे वही राजसत्ता लोगों की रक्षा करने में असफल रही।

परिणामस्वरूप लोगों का धर्म तथा चर्च जैसी संस्थाओं के प्रति अंधविश्वास और सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता बढ़ी।

3. **धर्म की प्रधानता-** आम जनमानस अशिक्षित था किंतु ईसाई पादरी पढ़ने और निरंतर ज्ञानवरदान करते रहते। इसी कारण आम व्यक्ति विवेक शून्य होने लगा और धर्म संबंधी बातों को इसके द्वारा बिना तर्क बुद्धि के स्वीकार कर लिया जाता। राजनीतिक सिद्धांतों और निर्णय को भी अंधविश्वासों के आधार पर (निगमन प्रणाली) निष्कर्ष मान लिया जाता।
4. **राजनीतिक विचारों की क्रमबद्धता का अभाव-** राज सत्ता के कमजोर होने के कारण राजनीतिक विचारों का भी अभाव रहा एवं जो कुछ ग्रंथ लिखे भी गए उनमें स्पष्टता और मानसिक परिपक्वता का अभाव था। समकालीन विचारक कभी राजसत्ता का समर्थन करते थे तो कभी विरोध।
5. **एक धर्म आधारित विश्व बंधुत्व की भावना-** ईसाई धर्म में मुख्यतः यह विचार प्रबल हुआ कि सभी एक ईश्वर की संतान हैं नतीजतन पूरा ईसाई समाज एक दूसरे का बंधु है। कुछ समय बाद यही समाज राजनीतिक व आध्यात्मिक विचारों में बट गया किंतु पोप, चर्च की शक्ति बढ़ने से यह विचार पुनः स्थापित हुआ।
6. **धर्म सत्ता और राजसत्ता के मध्य टकराव-** दोनों के द्वारा स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने हेतु एक ही ग्रंथ से अपने अनुकूल तर्क प्रस्तुत किए गए। पूरे मध्यकाल में शक्ति का पाला दोनों के मध्य झूलता रहा जिसे हम दो सत्ताओं के सिद्धांत (doctrine of two powers) के रूप में भी देखते हैं किंतु मैकियावेली ने 15वीं शताब्दी में धर्म को सत्ता के अंतर्गत मानकर आधुनिक चिंतन की शुरुआत की।
7. **संधियुग (transitional age)-** मध्यकाल वह कड़ी साबित हुआ जिस काल में यूरोप प्राचीनता से आधुनिक काल की ओर बढ़ा। आधुनिक काल निरंकुश **राजतंत्र** के साथ प्रारंभ हुआ जहां राजा को पूर्ण शक्ति प्राप्त थी हालांकि पोपतंत्र ने इस प्रकार की निरंकुशता पूर्व में ही प्रदर्शित कर दी थी। सामंतवाद इस युग की प्रमुख विशेषता थी इस युग में बर्बर जातियों की स्वतंत्रता भी बनी रही इन्हीं कारणों ने नई राष्ट्रीयताओं के उद्भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मध्य युग को क्षेपक (interlude) यानी एक अस्थायी रूकावट या संक्रमण के रूप में भी देखा जाता है। क्योंकि इसके पश्चात प्राचीन काल के आदर्श पुनः स्थापित हुए जो प्रायः इस काल में लुप्त हो चुके थे जैसे रोमन विधि संहिता, धर्म की गौणता, राजशक्ति की प्रमुखता।

डनिंग के अनुसार मध्य युग अराजनीतिक था। असहिष्णु धर्म सत्ता के अधीन राजसत्ता होने के कारण राजनीति शास्त्र और सिद्धांतों का स्वतंत्र अध्ययन नहीं हो सका। ईसाई धर्म ग्रंथों के खिलाफ कोई भी बात बोली या लिखी नहीं जाती थी। राजनीतिक विचारकों की विश्लेषण पद्धति पर्यवेक्षणात्मक (observational) नहीं थी सीमित धार्मिक ग्रंथों व आदर्शों के अनुसार ही समस्याओं का हल निकाला जाता था। (“The middle age was unpolitical”_ Dunning, political theories, p.131.)

पोप समर्थक (popelist) और राज्य **सत्तावादियों (sacerdotalists)** के मध्य अधिकारों और एक दूसरे से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए निरंतर संघर्ष जारी रहा जिस कारण प्रोफेसर बार्कर इस काल को 'विद्रोहपूर्ण युग' भी कहते हैं।

धीरे-धीरे धर्मसत्ता का प्रभाव घटने लगा और राजसत्ता ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। हॉब्स (Hobbes) ने सार के रूप में लिखा है कि "पोपवादिता रोमन साम्राज्य का भूत था, जिसकी कब्र पर राजसत्ता पदारूढ़ हुई। मध्यकाल का यह संघर्ष राजसत्तावादियों की विजय में परिणित हुआ।" (“The papacy is not other than the ghost of the deceased Roman Empire, sitting crowned upon the grave thereof. Leviathan (1651) pt. 4, ch. 47.”)

7.3.2 जीवन वृत्त , कार्य और अध्ययन पद्धति

13वीं शताब्दी के विचारक सेंट सेण्ट थॉमस एक्विनास का जन्म 1225 ई में नेपल्स राज्य (आज इटली) के **एक्वीनो (Aquino)** नगर में हुआ। उनके पिता एक्वीनो के काउंट (Count of Aquino) थे और माता का नाम थियोडोरा (Theodora) था। उनका बचपन समृद्धि और सुख सुविधाओं से परिपूर्ण रहा। उनकी जन्मजात प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके माता-पिता उन्हें उच्च राजकीय पदाधिकारी बनाना चाहते थे। किंतु 16 वर्ष की आयु में वे डोमिनिकन संप्रदाय (Dominican Order) के आदर्शों और आचरण संबंधी शुद्धता से प्रभावित होकर इस संप्रदाय के सदस्य बन गए। उनके माता-पिता ने उन्हें वहां से दबाव डालकर बुलाया और वैवाहिक जीवन में प्रवेश हेतु स्त्रियों को भी उनके पास भेजा गया। परंतु अपने दृढ़ निश्चय और सांसारिक जीवन से दूर रहने के अपने संकल्प के साथ में फिर भाग कर मठ में पहुंच गए और वहां से पेरिस चले गए। वहां उन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय में दाखिला लिया और अल्पकाल में ही अपनी प्रखर बुद्धि के

कारण वे वहां प्रसिद्ध हो गए। वहां उन्होंने गुरु अल्बर्ट मेगनस (Albertus Magnus) से धार्मिक शिक्षा प्राप्त की।

1252 ई में उन्होंने अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य शुरू किया इसी दौरान वे विलियम ऑफ मोरवेक (William of Moerbeke) के संपर्क में आए और अरस्तू तथा उसके तर्कशास्त्र पर अनेक टिकाएं लिखीं। उस समय पेरिस विश्वविद्यालय में डोमिनिकन भिक्षुओं को उपाधि देने का प्रावधान नहीं था किंतु 1256 ई में पोप के हस्तक्षेप से उन्हें मास्टर आफ थियोलॉजी की उपाधि प्राप्त हुई। इसके पश्चात उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार प्रसार किया और कई उच्च पदों पर नियुक्त हुए। को तथा कई राजा भी उनसे धार्मिक मामलों में परामर्श लेते। पूरे यूरोप में उनकी ख्याति फैल चुकी थी पर अल्प आयु में ही 1274ई में उनका निधन हो गया। मरणोपरांत 16वीं शताब्दी में उन्हें 'डॉक्टर ऑफ द चर्च' की उपाधि से सम्मानित किया गया।

कार्य- सेंट थॉमस न केवल धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे, बल्कि उन्होंने राजनीति शास्त्र, धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र जैसे विषयों पर भी गहन अध्ययन कर अनेक पुस्तकें लिखीं। राज-दर्शन पर उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं – 'ऑन किंगशिप' (On Kingship), 'डी रेजिमाइन प्रिन्सिपम' (De Regimine Principum), तथा 'कमेण्ट्री ऑन अरिस्टॉटिल्स पॉलिटिक्स' (Commentary on Aristotle's Politics)। इन रचनाओं में एक्विनास ने राज्य और चर्च के संबंधों के साथ-साथ राजतंत्र, नागरिक शासन की प्रकृति, उसके उद्देश्य और सीमाओं पर विस्तृत चर्चा की है। उनका महान धर्म-दार्शनिक ग्रंथ 'सुम्मा थियोलॉजिका' (Summa Theologica) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने प्लेटो और अरस्तू के दर्शन को रोमन कानून तथा ईसाई धर्म-दर्शन के साथ समन्वित करने का प्रयास किया है। इसी तरह 'सुम्मा कण्ट्रा जेंटायल्स' (Summa Contra Gentiles), 'टू द किंग ऑफ साइप्रस' (To the King of Cyprus), तथा 'द रूल ऑफ प्रिन्सेस' (The Rule of Princess) भी उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जो उनके महान विद्वतावादी होने की पुष्टि करती हैं।

अध्ययन पद्धति - विद्वतावाद (Scholasticism) पर आधारित यह अध्याय सेंट थॉमस एक्विनास के युग की बौद्धिक और धार्मिक संश्लेषण की विशेषता को उजागर करता है, जिसमें विश्वास और तर्क के समन्वय पर विशेष बल दिया गया है। विद्वतावाद का मूल आधार तार्किक व्याख्या तथा चर्च सिद्धांतों और यूनानी तर्कवाद के मेल में निहित है। एक्विनास इस समन्वय को एक तीन मंजिला भवन के रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—जिसमें विज्ञान नीचे का कार्य करता है, दर्शनशास्त्र

विज्ञान के सिद्धांतों को व्यवस्थित करता है और आपस में जोड़ता है, तथा ईसाई प्रकाशना (revelation) पर आधारित धर्मशास्त्र उस सम्पूर्ण ज्ञान संरचना का संचालन करता है। एक्विनास के अनुसार धर्मशास्त्र ज्ञान का सर्वोच्च रूप है, जिसके अधीन नैतिकता, राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र जैसी अन्य शाखाएं आती हैं। यह ढाँचा एक्विनास की समन्वयवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है, जिसके माध्यम से उन्होंने सार्वभौमिकतावाद, विद्वतावाद और अरस्तूवाद को एक संगठित बौद्धिक परंपरा में सफलतापूर्वक एकीकृत किया।

7.4. थॉमस एक्विनास के राजनीतिक विचार

7.4.1 मानव प्रकृति एवं समाज की रूपरेखा

थॉमस एक्विनास के अनुसार प्रकृति में विश्वास श्रेणीबद्ध रूप से अस्तित्वगत है जिसमें ईश्वर सर्वोच्च स्तर पर है। मनुष्य अपने जीवन में अपने स्वभाव अनुसार कार्य करता है और अपनी उच्चतम संभावना को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता है। उसकाल के धार्मिक चिंतकों और समर्थकों की भांति उसका भी यही मानना था कि जिस प्रकार आत्मा शरीर पर, ईश्वर विश्व पर शासन करते हैं उसी प्रकार उच्च श्रेणी के प्राणी निम्न श्रेणी पर शासन करते हैं। उनका कहना था कि समाज का हर वर्ग किसान, पुजारी, शिल्पकार आदि अपना योगदान देकर समाज की भौतिक और आध्यात्मिक खुशहाली देकर प्रकृति को पूर्णता प्रदान करते हैं। एक्विनास ने प्रकृति के उद्देश्य अस्तित्व को स्थापित करने का कार्य किया। अरस्तू के विचारों से सहमत होते हुए एक्विनास का भी यह मानना था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है क्योंकि वह सब कुछ सीख सकता है। पशुओं को स्वाभाविक ज्ञान है जैसे एक हिरण को पता होता है की शेर उसका शत्रु है, उन्हें प्रकृति ने सुरक्षा, भोजन एवं निर्वहन हेतु शारीरिक क्षमताएं जैसे बाल, सींग, दांत आदि दिए हैं जबकि व्यक्ति को बुद्धि प्राप्त है जिससे वह निरंतर अपनी समझ विकसित करता है। मनुष्य विविध क्षेत्रों में विशेषज्ञता हासिल करता है किंतु सभी क्षेत्रों में नहीं इसलिए वह समाज में रहकर एक दूसरे के सहयोग से अपनी आवश्यकतायें पूरी करता है।

उनके अनुसार सभी प्राणियों में मनुष्य सबसे विशेष इसलिए है क्योंकि उसके पास दो प्रकार की बौद्धिक क्षमता है एक जागृत एवं दूसरा आध्यात्मिक विवेक, जागृत प्रकृति में दोष हो सकते हैं किंतु आध्यात्मिक विवेक प्रकृति ईश्वरीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए वह दोषों से मुक्त है।

7.4.2 राज्य का सिद्धान्त

धर्म से समाज की प्रथकता को जिस प्रकार से एक्विनास ने स्वीकार किया है इसी प्रकार चर्च से राज्य की प्रथकता का भी समर्थन है। थॉमस राजतंत्र का समर्थन है उसके अनुसार समाज को सुनियोजित और शांति के साथ स्थापित करने के लिए राजा का होना आवश्यक है जिसे शासन संबंधी अधिकार स्वयं ईश्वर ने दिए हैं। पूर्व के विचारकों जैसे सेंट ऑगस्टाइन का यह मानना था कि राज्य का अस्तित्व मनुष्य के मूल पाप(Original Sin) के कारण हुई है यानी राज्य मनुष्य की उस बुराई से निपटने के एक साधन के रूप में उभरा है। किंतु एक्विनास ने इसका खंडन कर राज्य को एक प्राकृतिक संस्था बताया जिसका उद्भव सभी व्यक्तियों के पूर्ण विकास के लिए हुआ है। एक्विनास ने कहा कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जहां प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे पर निर्भर है ऐसे में श्रेष्ठ और प्रज्ञावान लोगों द्वारा शासन स्वाभाविक है और सभी के लिए लाभकारी भी। राज्य मनुष्य की बुराइयां रोकने के लिए नहीं बल्कि उसकी उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के लिए सहायक है। राज्य द्वारा नियंत्रण सद्गुणों के विकास के लिए है किसी बाधा के रूप में नहीं। एक्विनास ने स्पष्ट किया कि निर्दोषता की अवस्था (स्टेट ऑफ़ इनोसेंस) पापमय जीवन के पहले भी राज्य किसी न किसी रूप में मौजूद था।

राज्य की स्थापना का कारण एक्विनास ईश्वर को मानता है जो सर्वोच्च राजा है और सभी शासन के वैध अधिकार इसी के द्वारा प्रदत्त हैं। ऐसे में राज्य का कर्तव्य है कि वह भौतिक, शांति, समृद्धि और अंततः आध्यात्मिक उन्नति के लिए निरंतर कार्य करे और इसके समक्ष आने वाली रूकावटों को दूर करे। राजा के स्वार्थी होने या उसके व्यक्तित्व में आने वाली विकृतियों के कारण शासन की प्रकृति में आने वाले बदलावों को एक्विनास अरस्तु की तरह वर्गीकृत करता है - एक व्यक्ति द्वारा स्वार्थवश किए गए शासन को **निरंकुश शासन** की संज्ञा दी है, कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए शासन को कु-कुलीन तंत्र (Oligarchy), अत्यधिक व्यक्तियों द्वारा किए गए शासन को कु-प्रजातंत्र (Democracy) की संज्ञा दी है। इसके विपरीत यदि बहुत लोगों द्वारा एक न्यायपूर्ण शासन की स्थापना की गई है तो एक्विनास उसे सु- प्रजातंत्र (Polity) कहता है, कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए शासन को सु- कुलीनतंत्र (divine laws) और एक व्यक्ति द्वारा किए गए शासन को राजतंत्र कहकर संबोधित करता है।

राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों को विवेक सदाचारी वह उच्चतम अवस्था मोक्ष प्राप्ति के लिए सहायता करना है। ईसाई पादरी द्वारा ही यह धार्मिक मार्गदर्शन दिया जाता है जो अंतिम लक्ष्य प्राप्त

करने में सहायक है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राज्य में अनुकूल वातावरण बनाए। थॉमस एक्विनास के अनुसार राजा ने तीन भागों अध्ययन करने चाहिए 1- प्रजा को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए अनुकूल वातावरण की स्थापना। 2- उस वातावरण की स्थिरता यानी वह स्थायी रहे यह सुनिश्चित करना। 3- समय के साथ वातावरण में सुधार ताकि वह निरंतर बेहतर हो ता रहे।

जन समुदाय में सदाचारी व्यक्तित्व प्रबल बनाने के लिए थॉमस के अनुसार तीन बातें आवश्यक हैं 1- शांति एवं एकता 2- निरंतर सदाचारी कार्यों के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना तीसरा भौतिक वस्तुओं की उपलब्धता ताकि सभी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकें। उनके अनुसार सदाचारी जीवन जीने के लिए तीन प्रमुख बाधाएं बनती हैं -

1. प्राकृतिक बाधाएं जैसे आयु, मृत्यु आदि इसके समाधान हेतु राजा को असमर्थ हो गए व्यक्तियों की जगह नए योग्य एवं उत्साही लोगों को नियुक्त करना चाहिए।
2. मानवीय कमजोरी जैसा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व दूषित हो जाता है या वह स्वार्थी बनकर समूह की शक्ति को क्षीण करने लगता है इसके समाधान हेतु राजा को ऐसी विधियां बनाने चाहिए कि कोई भी गलत मार्ग पर जाने का साहस न करे।
3. विदेशियों के आक्रमण या षड्यंत्र से भी राज्य को खतरा हो सकता है इसके समाधान हेतु राजा को निरन्तर शत्रुओं के आक्रमण से बचाव के उपाय करते रहने चाहिए।

इस प्रकार एक्विनास ने राज्य और राजा दोनों के दायित्व का विश्लेषण किया की उनका कार्य केवल शासन करना नहीं बल्कि जनता के नैतिक भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिए वातावरण बनाना और उसे सुरक्षित रखना भी है।

7.4.3 विधि का सिद्धांत एवं प्रकार

थॉमस एक्विनास एक महान धार्मिक और दार्शनिक विचारक हुए जिन्होंने कानून के बारे में तर्कपूर्ण विचार प्रतिपादित किए। जितना व्यवस्थित और वर्गीकृत विश्लेषण उन्होंने कानून का किया उससे पूर्व किसी भी विचारक ने नहीं समझाया था। उन्होंने अरस्तु, सिसरो, संत अगस्टिन और चर्च के विचारों के अध्ययन के पश्चात नया नजरिया दिया। उनका मानना था कि राज्य का अंतिम लक्ष्य केवल शक्ति नहीं बल्कि व्यक्तियों के आध्यात्मिक विकास एवं मुक्ति के लिए है। यह सुनिश्चित करने के लिए राजा एवं शासन के अधिकार सीमित होने चाहिए। एक्विनास का कानून पर गहरा विश्वास था उनका मानना था कि कानून केवल मानवीय नहीं ईश्वर के द्वारा दिए गए नियम होते हैं। राजा एवं

शासन के लिए देवीय विधियों का होना आवश्यक है जिसके माध्यम से व्यक्ति आध्यात्मिक विकास कर सके, उन्होंने मानवीय विधियों को देवीय विधियों के अनुकूल होने की पैरवी की। एक्विनास के कानून संबंधी विचारों को समझने से पूर्व हम कानून की पूर्व अथवा आधुनिक अवधारणाओं को समझते हैं -

आधुनिक दृष्टिकोण में कानून को सर्वोच्च सत्ता (संप्रभुता) का आदेश माना गया है, इस सकारात्मक विचार के अनुसार शासन आदेश देता है और जिसका उल्लंघन दंडनीय हो जैसे हॉब्स और जॉन ऑस्टिन के विचार। प्राचीन यूनानी दृष्टिकोण में प्रमुख विचारक प्लेटो और अरस्तू के अनुसार कानून का आधार **विवेक** और नैतिकता है यह आदेश ही नहीं बल्कि न्याय और भलाई को बढ़ावा भी देता है। एक्विनास ने पूर्व के यूनानी, रोमन विचारक- प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, सैलिसबरी आदि के विधि संबंधित विचारों तथा ईसाई धर्म शास्त्रों के विचारकों सेंट ऑगस्टिन के विचारों को मिलाकर कानून का एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण अपनी पुस्तक 'सुम्मा थियोलॉजिया' और 'द रूल ऑफ प्रिंसेस' में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार कानून एक ऐसा नैतिक सिद्धांत है जो पूरे ब्रह्मांड में लागू होता है। मानवीय विवेक को भी उन्होंने देवी विवेक का हिस्सा माना। एक्विनास द्वारा दी गई कानून की परिभाषा इस प्रकार है-"कानून विवेक द्वारा बनाया गया ऐसा आदेश है जो लोक-कल्याण के लिए होता है और उसे वही व्यक्ति बनाता और लागू करता है जिसे समाज की भलाई की जिम्मेदारी सौंपी गई हो।" "Law is an ordinance of reason for the common good, made by him who has care of the community, and promulgated" एक्विनास के अनुसार विधि दो प्रकार की होती है एक आदेशक एवं दूसरी निषेधक अर्थात् एक कार्य करने के लिए प्रेरित करती है तो दूसरी गलत कार्य करने से रोकती है। उन्होंने विधि के चार प्रकार बताएं- शाश्वत कानून, प्राकृतिक कानून, मानवीय कानून, देवीय कानून।

1. शाश्वत कानून – यह ईश्वर की विवेकपूर्ण बुद्धि है, जो अनादि काल से विद्यमान है। यह ईश्वर द्वारा निर्मित वह सार्वभौमिक नियम है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड को नियंत्रित और संचालित करता है। थॉमस एक्विनास के अनुसार, शाश्वत विधि केवल ईश्वर की बुद्धि में अंतर्निहित होती है। सामान्य मानव इसे सीधे नहीं समझ सकता, लेकिन विवेकशील व्यक्ति जितना अधिक इस विधि का आभास करते हैं, उतना ही वे सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर जीवन के परम लक्ष्य, अर्थात् मोक्ष (salvation) की ओर अग्रसर होते हैं। एक्विनास मानते हैं कि प्राकृतिक कानून (Natural Law) शाश्वत कानून का ही वह रूप है जो मानव बुद्धि की समझ में आता है। चूंकि देवीय कानून, मानवीय कानून और प्राकृतिक

कानून सभी शाश्वत कानून से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए शाश्वत विधि इन सबकी मूल और आधारभूत स्रोत है। यह कानून सार्वभौमिक है, जो सम्पूर्ण सृष्टि – आकाश, पृथ्वी, चेतन और अचेतन – पर समान रूप से लागू होता है। यह बुद्धिगम्य (rational beings) और अबुद्धिगम्य (irrational beings) दोनों प्रकार के प्राणियों एवं वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न तरीकों से कार्य करता है।

2. प्राकृतिक कानून (Natural Law) – प्राकृतिक कानून वे सार्वभौमिक नियम हैं जिन्हें मनुष्य अपने तर्क और विवेक के माध्यम से समझता है। उदाहरण स्वरूप – अच्छाई करना और बुराई से बचना ऐसे सामान्य सिद्धांत हैं जो इस कानून की मूल भावना को दर्शाते हैं। थॉमस एक्विनास के अनुसार, प्राकृतिक कानून ईश्वर के शाश्वत कानूनों (Eternal Law) का ही एक भाग है, जो मनुष्य के भीतर विवेक एवं बुद्धि के रूप में अंतर्निहित होता है। यह कानून दैवी प्रकाश (Divine Illumination) के माध्यम से कार्य करता है, जिससे मनुष्य सही और गलत में अंतर करने में सक्षम होता है। प्राकृतिक विधि के सिद्धांत सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होते हैं, किंतु देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इनमें व्यावहारिक रूप से भिन्नताएं हो सकती हैं। यद्यपि इसका अस्तित्व समस्त जड़ और चेतन प्रकृति में होता है, फिर भी मनुष्य में इसका प्रभाव और बोध अधिक होता है, क्योंकि उसमें विवेक की क्षमता विकसित होती है। इस कानून का उद्देश्य मनुष्य और समाज की स्वाभाविक आवश्यकताओं जैसे आत्मरक्षा, दूसरों की सहायता, और सत्य की खोज को सुनिश्चित करना है। यह व्यक्ति में सामाजिकता एवं परोपकार की भावना का विकास करता है। हालाँकि, इसकी कुछ सीमाएं भी हैं— जैसे कि मनुष्य की बुद्धि पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती, इसलिए कई बार वह इन नियमों को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाता। यह कानून लिखित नहीं होते, बल्कि स्वाभाविक रूप से अनुभव किए जाते हैं, और व्यक्ति की अंतरात्मा से उद्भूत होते हैं।

3. मानवीय कानून (Human Law) – थॉमस एक्विनास के अनुसार, राज्य का उद्देश्य ऐसा वातावरण निर्मित करना है, जो समाज को सदाचारी जीवन प्रदान करे और सभी व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो। मानवीय विधियां वे नियम और कानून हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने अनुभव, तर्क और सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर समाज के व्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण संचालन के लिए निर्मित किया है। जैसे कि किसी देश का संविधान या अन्य विधिक व्यवस्थाएं। एक्विनास के अनुसार, मानवीय कानून प्राकृतिक कानून (Natural Law) का ही व्यावहारिक रूप है। चूंकि प्राकृतिक कानून में कुछ अस्पष्टताएं हो सकती हैं, अतः मानव ने अपने विवेक से इन्हें स्पष्ट रूप में व्यवस्थित किया है। ये कानून प्राकृतिक कानून के पूरक होते हैं और तब

तक वैध माने जाते हैं जब तक वे प्राकृतिक न्याय और नैतिकता की सीमा में रहते हैं। मानवीय कानून विवेक और तर्क पर आधारित होते हैं, ये लिखित एवं सकारात्मक (Positive Law) स्वरूप में होते हैं। इनके पालन के लिए दंड का प्रावधान भी होता है, किंतु इनका संबंध केवल भौतिक/लौकिक जगत से होता है। एक्विनास ने मानवीय कानून को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—

1. राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium) – जो विभिन्न देशों के मध्य व्यवहार एवं समझौतों के नियमों को दर्शाता है।

2. नागरिक कानून (Jus Civile) – जो किसी एक देश के नागरिकों के लिए बनाए गए विधिक नियम होते हैं।

4. **दैवीय कानून (Divine Law)** – थॉमस एक्विनास के अनुसार, दैवीय विधि वह प्रणाली है, जिसके माध्यम से ईश्वर का रहस्योद्घाटन (Revelation) मनुष्य की सांसारिक एवं वासनात्मक बुद्धि को पूर्णता की ओर ले जाता है। यह विधि ईश्वर द्वारा ईसा मसीह को प्रदान की गई, जो आज मानवता को बाइबल के रूप में उपलब्ध है। उनके अनुसार, मनुष्य को दैवीय विधि की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि वह केवल अपनी बुद्धि के बल पर अंतिम उद्देश्य (Ultimate End) तक नहीं पहुँच सकता। उसकी निर्णय-क्षमता में अनिश्चितता बनी रहती है। मानवीय विधि केवल बाहरी आचरणों को नियंत्रित करती है, आत्मा या अंतःकरण को नहीं। यह सभी बुरे कर्मों को रोकने में सक्षम नहीं होती, न ही उनके लिए न्यायोचित दंड सुनिश्चित कर सकती है। दैवीय विधि मानव बुद्धि की खोज का परिणाम नहीं है, बल्कि यह ईश्वर की कृपा है, जो केवल उसके कृपापात्रों को प्राप्त होती है। यह विधि आस्था पर आधारित है, विवेक पर नहीं — हालांकि यह विवेक की विरोधी नहीं, बल्कि उसकी पूरक है। इस दृष्टि से, रहस्योद्घाटन (Revelation) कानून रूपी ढाँचे का शिखर (Summit) है, जबकि विवेक उसकी नींव (Foundation)। अतः दैवीय कानून, मानवीय कानून की अपूर्णताओं की पूर्ति करता है।

7.4.4 धर्म और राजसत्ता का समन्वय (थॉमस एक्विनास एवं महान संश्लेषण)

13वीं शताब्दी में अरबी विद्वानों विशेषकर एवरोज (Averroes) के माध्यम से अरस्तु के कार्य पुनः यूरोप में पहुँचे। यह धर्मनिरपेक्ष समुदाय की धारणा के बीजारोपण के लिए एक क्रांतिकारी घटना थी। प्रारंभ में चर्च ने जिसका विरोध भी किया। यूनानी दार्शनिक चिंतन विशेषकर राष्ट्रवादी को ईसाई धर्म शास्त्र से जोड़ना एक्विनास के अद्वितीय योगदान के रूप में देखा जाता है। अरस्तुवाद एक्विनास का

एक प्रमुख चिंतन तत्व रहा किंतु उन्होंने रोमन, पैट्रीस्टिक, ऑगस्टिनियन और ज्यूइश जैसी विचारधाराओं का भी समन्वय किया। उन्होंने इन सभी के समन्वय को एक सजीव, संगठित और समग्र दर्शन (अंगीरूप साकल्य/organic whole) के रूप में रूपांतरित किया जिसका केंद्र ईश्वरीय विधान अथवा शाश्वत कानून (Lex Aeterna) था। इस ईश्वर की बुद्धि को उन्होंने सारी सृष्टि में सार्वभौमिक, अपरिवर्तनीय और शाश्वत रूप में देखा। यूरोप में एवेरोइस्ट अरिस्टोटेलिअनिज्म (Averroist Aristotelianism) के उग्र अभियान के चलते चर्च की धार्मिक व्यवस्था (विश्वास) को चुनौती मिली जिस कारण चर्च चिंतित था। विश्वास(Faith) और तर्क की इस बहस में ऐक्विनास ने समाधान सुझाया और दोनों को एक दूसरे का विरोधी नहीं बल्कि पूरक बताया। उनका मानना था कि तर्क विश्वास का खंडन नहीं करता बल्कि इसकी पुष्टि कर उसे पूर्णता प्रदान करता है। तर्क हमें प्राकृतिक जगत की समझ और समस्याओं के समाधान देता है किंतु तर्क से परे जीवन के प्रश्नों का समाधान विश्वास द्वारा ही मिलता है, जहां तर्क की सीमा खत्म होती है वहां विश्वास का प्रवेश होता है। ऐक्विनास ने चर्च (धार्मिक सत्ता) और राज्य (धर्मनिरपेक्ष सत्ता) के मध्य उत्पन्न हुई बहस के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने अरस्तू के राज्य के नैसर्गिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया, लेकिन यह भी स्पष्ट किया कि राज्य सर्वोच्च संस्था नहीं है—मानव का अंतिम उद्देश्य दैवी है ईश्वर प्राप्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति है। उन्होंने फाइडिज्म (fiedism) केवल विश्वास पर निर्भर रहने के बजाय यह कहा कि तर्क ही सत्य की पुष्टि करता है और गलतफहमियों से बचाता है।

7.4.5 दासता एवं संपत्ति संबंधी विचार

अरस्तू की भांति, ऐक्विनास ने भी व्यक्तिगत संपत्ति को जीवन के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार, संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक हित अथवा जनकल्याण के लिए होना चाहिए, न कि केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु। चर्च और पोप को भी संपत्ति रखने का अधिकार है, किंतु उसका उपयोग धार्मिक नियमों के अनुरूप ही निर्धनों और जरूरतमंदों की सहायता के लिए किया जाना चाहिए। ऐक्विनास मानते हैं कि अधिक संपत्ति का अर्जन पाप का कारण बन सकता है। वे व्यापार का समर्थन करते हैं, परंतु यह स्पष्ट करते हैं कि व्यापारी लाभ को पारिश्रमिक (remuneration) के रूप में समझें, न कि लोभवशा। वे परिश्रम द्वारा जीविकोपार्जन के पक्षधर हैं और इसलिए ब्याज द्वारा धनार्जन (सूदखोरी) के विरोधी थे। ऐक्विनास के अनुसार, यदि किसी के पास आवश्यकता से अधिक धन हो, तो उसे निर्धनों में वितरित कर देना चाहिए।

एक्विनास के अनुसार दासता प्रथा- एक्विनास ने प्राकृतिक विधि (Natural Law) के आधार पर दासता प्रथा को स्वीकार किया है। पूर्ववर्ती विचारकों की भांति उनका भी मानना था कि दासता ईश्वर द्वारा दिया गया एक दंड है। हालांकि, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि दासों को कुछ मूलभूत प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। उनके अनुसार, किसी भी स्वामी को यह अधिकार नहीं है कि वह दासों को उनके न्यूनतम प्राकृतिक अधिकारों—जैसे जीवन का अधिकार, भरण-पोषण का अधिकार और पारिवारिक जीवन का अधिकार—से वंचित करे। एक्विनास ऐसे किसी भी व्यवहार का विरोध करते हैं जो दासों की मानवीय गरिमा का हनन करता हो। एक्विनास का यह भी मत था कि दासता सैनिकों में साहस और दृढ़ता का संचार करती है, क्योंकि युद्ध के मैदान में दास बन जाने का भय उन्हें अधिक शक्ति और ऊर्जा के साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित करता है।

7.4.6 एक्विनास मध्य युग के अरस्तू के रूप में

सेण्ट थॉमस एक्विनास को मध्ययुग का अरस्तू कहा जाता है क्योंकि उन्होंने अरस्तू के तर्क और विवेक पर आधारित दर्शन को ईसाई धर्म-सिद्धांतों के साथ समन्वित कर एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने अरस्तू के अनेक सिद्धांतों—जैसे कि मनुष्य का सामाजिक स्वभाव, राज्य की प्राकृतिक उत्पत्ति, राज्य का नैतिक उद्देश्य, और कानून का विवेक से संबंध—को स्वीकार किया, लेकिन केवल उसी सीमा तक जहाँ तक वे ईसाई मान्यताओं के अनुरूप थे। एक्विनास ने न केवल अरस्तू की व्यावहारिक राजनीतिक समझ को अपनाया बल्कि उसमें आध्यात्मिकता और ईश्वर का स्थान जोड़ते हुए राज्य और चर्च दोनों को पूरक संस्थाएं बताया। उन्होंने यह मान्यता दी कि कुछ सत्य तर्क से परे हैं और उन्हें केवल श्रद्धा द्वारा जाना जा सकता है। उनकी विचारधारा धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच लंबे समय से चले आ रहे संघर्ष को शांत करने का प्रयास थी।

एक्विनास ने अरस्तू के दार्शनिक आधार पर ही अपना राजनीतिक चिंतन खड़ा किया। जैसे अरस्तू ने राजनीति को नैतिक जीवन की पूर्ति का माध्यम माना, वैसे ही एक्विनास ने भी राज्य को श्रेष्ठ जीवन तथा आत्मिक मुक्ति प्राप्त करने का साधन माना। उन्होंने राज्य की भूमिका को धर्म के अधीन नहीं, बल्कि उसके पूरक के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कानून को विवेक का परिणाम माना और 'प्राकृतिक कानून' तथा 'दैवी कानून' की अवधारणाओं के माध्यम से इसे विस्तार दिया। दोनों ने निजी संपत्ति को स्वीकार किया, परंतु एक्विनास ने इसे सार्वजनिक हित में उपयोग की बात कही, एक्विनास ने अरस्तू की तरह दासता को स्वीकार किया और इसे सैन्य प्रेरणा का एक स्रोत भी बताया, सरकारों का वर्गीकरण करते हुए अरस्तू की तरह उन्होंने भी तीन अच्छे रूप (राजतंत्र,

कुलीनतंत्र, लोकतंत्र) और तीन भ्रष्ट रूप (स्वेच्छाचारिता, ओलिगार्की, भीड़तंत्र) को स्वीकार किया। राजतंत्र को उत्तम और लोकतंत्र को निकृष्ट माना, न्याय और उद्देश्यवाद (teleology) जैसे विषयों पर उनके विचार अरस्तू से प्रेरित थे, किन्तु उन्होंने उन्हें ईसाई भावभूमि में ढाल कर एक संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इस कारण विद्वान उन्हें 'ईसाई अरस्तू' या 'Christian Aristotelian' कहते हैं, जिन्होंने धर्म और तर्क के बीच एक सफल समन्वय स्थापित किया।

7.5 सारांश

थॉमस एक्विनास मध्य युग के महान ईसाई विचारक थे, जिन्होंने अरस्तू, सिसरो, सेंट ऑगस्टाइन, और चर्च की परंपराओं को एक संगठित रूप में समेकित कर राजनीति, कानून, और धर्म का एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उनके अनुसार, मनुष्य एक सामाजिक और बौद्धिक प्राणी है, जो समाज और राज्य में रहकर अपने नैतिक और आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होता है। उन्होंने समाज में कार्य-विभाजन, आपसी सहयोग, और सदाचारी जीवन को मनुष्य के विकास के मूल में रखा। एक्विनास राज्य को ईश्वर प्रदत्त प्राकृतिक संस्था मानते हैं जिसका उद्देश्य केवल बुराई रोकना नहीं, बल्कि व्यक्ति को उसकी उच्चतम अवस्था – मोक्ष – तक पहुँचने में सहायता करना है। उन्होंने राजतंत्र को सबसे उचित शासन व्यवस्था बताया और समाज में शांति, नैतिकता, और समृद्धि बनाए रखने के लिए राजा को नैतिक रूप से उत्तरदायी माना। उनका यह भी मत था कि सदाचारी समाज के लिए शांतिपूर्ण वातावरण, सद्गुणों का पोषण और आवश्यक संसाधनों की उपलब्धता तीन अनिवार्य तत्व हैं। राज्य और राजा का कार्य केवल शासन नहीं, बल्कि भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण भी है।

एक्विनास ने विधि-सिद्धांतों को चार स्तरों पर विभाजित किया शाश्वत कानून (Eternal Law), प्राकृतिक कानून (Natural Law), मानवीय कानून (Human Law), और दैवीय कानून (Divine Law)। उनका मानना था कि सभी विधियाँ अंततः ईश्वर की विवेकपूर्ण योजना से उत्पन्न होती हैं, जो व्यक्ति को सही और गलत के बीच भेद करने में मार्गदर्शन करती हैं। दैवीय विधियाँ विशेष रूप से उन सीमाओं की पूर्ति करती हैं जहाँ मानवीय विवेक और कानून असफल हो जाते हैं। उन्होंने राज्य और चर्च के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश की, यह बताते हुए कि तर्क और विश्वास विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। इसी कारण उन्हें 'ईसाई अरस्तू' कहा गया, जिन्होंने तर्कवादी अरस्तू के सिद्धांतों को ईसाई धर्म में ढालते हुए सुसंगत दर्शन तैयार किया। एक्विनास ने संपत्ति को जनकल्याण

हेतु आवश्यक बताया और दासता को प्राकृतिक कानून के आधार पर स्वीकार किया, परंतु उसमें मानवीय गरिमा और मूलभूत अधिकारों की रक्षा का पक्ष लिया। सेंट ऑगस्टाइन जहाँ प्लेटो और प्लोटिनस की दोहरी आत्मा-शरीर दृष्टि से प्रभावित थे और राज्य को नैतिक आवश्यकता के बजाय पाप का परिणाम मानते थे, वहीं एक्विनास ने राज्य को नैसर्गिक माना और उसका धार्मिक, नैतिक तथा व्यावहारिक पुनर्पाठ प्रस्तुत किया। उन्होंने आस्था को तर्क का पूरक माना और ऑगस्टाइन के संपत्ति एवं दासता संबंधी दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त करते हुए एक नया दृष्टिकोण विकसित किया, जिससे मध्य युग के दर्शन में "महान संश्लेषण" की आधारशिला रखी गई।

7.6 शब्दावली

1. Organic Whole— एक ऐसा समग्र (whole) जिसमें विभिन्न हिस्से (parts) आपस में जुड़कर एक सजीव, संगठित और पूर्ण इकाई बनाते हैं जो कोई यांत्रिक (mechanical) या कृत्रिम (artificial) जोड़ नहीं है, बल्कि प्राकृतिक, स्वाभाविक और आपसी संबंधों से बना हुआ एक समग्र है, जिसमें हर हिस्सा अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है और पूरे ढांचे के लिए आवश्यक है।
2. पोप समर्थक (Popelist)- वे लोग या विचारधारा होती है जो पोप (Pope) की सर्वोच्च धार्मिक और राजनीतिक सत्ता को मानते हैं।
3. राज्य सत्तावादी (Sacerdotalists/पुरोहित प्रधानवाद के समर्थक)- वे लोग अथवा विचारधारा जो मानते हैं कि राज्य को धार्मिक पुरोहितों (Sacerdotal authority) से स्वतंत्र होना चाहिए, यानी: राज्य की सत्ता को धर्म के अधीन नहीं होना चाहिए। राजा की सत्ता सर्वोच्च मानी जाती है, और वह पोप या चर्च के अधीन नहीं है।
4. निरंकुश शासन (Tyranny)- जब शासक केवल अपने लाभ के लिए कठोर और अनुचित शासन करता है
5. राजतंत्र (Monarchy)- एक व्यक्ति (राजा) द्वारा किया गया शासन
6. विवेक- सही और गलत की पहचान करने की बुद्धि
7. तर्क (Reason)- सोचने-समझने की शक्ति
8. विश्वास (Faith)- ईश्वर या धार्मिक सिद्धांतों में आस्था रखना
9. फाइडिज्म (Fideism)- केवल विश्वास पर आधारित सोच, जिसमें तर्क को नजरअंदाज किया जाता है

10. शाश्वत विधि (Eternal Law)- ईश्वर का वह नियम जो पूरे ब्रह्मांड पर लागू होता है
11. दैवीय विधि (Divine Law)- ईश्वर द्वारा प्रकट किया गया नियम (जैसे – बाइबल में दिए गए आदेश)
12. प्राकृतिक विधि (Natural Law)- वह नियम जिसे मनुष्य अपने विवेक से समझ सकता है (जैसे – भलाई करना)
13. मानवीय विधि (Human Law)- समाज के लोगों द्वारा बनाए गए कानून (जैसे – संविधान)

7.7 अभ्यास प्रश्न:

1. थॉमस एक्विनास किस कालखंड के प्रमुख ईसाई दार्शनिक थे?
 - A. प्रारंभिक मध्य युग B. आधुनिक काल C. उत्तर मध्य युग D. पुनर्जागरण काल
2. सेंट थॉमस एक्विनास ने निम्न में से किस विचारक के विचारों को ईसाई धर्म से समन्वित किया?
 - A. प्लेटो B. सुकरात C. अरस्तू D. कांट
3. एक्विनास के अनुसार राज्य का अंतिम उद्देश्य क्या है?
 - A. शक्ति का विस्तार B. कानून का शासन C. व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति D. व्यापार का नियंत्रण
4. थॉमस एक्विनास के अनुसार निम्न में से कौन-सी विधि ईश्वर की बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है और ब्रह्मांड पर शासन करती है?
 - A. मानवीय विधि B. प्राकृतिक विधि C. दैवीय विधि D. शाश्वत विधि
5. एक्विनास के अनुसार दैवीय विधि (Divine Law) का प्रमुख स्रोत क्या है?
 - A. मनुष्य का विवेक B. बाइबल C. न्यायालय D. अनुभव
6. सेंट ऑगस्टाइन के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किससे हुई है?
 - A. ईश्वरीय योजना से B. नैतिक आवश्यकताओं से C. मूल पाप (Original Sin) से D. तर्क और विवेक से
7. थॉमस एक्विनास के अनुसार निम्न में से कौन-सी शासन व्यवस्था सबसे उत्तम है?
 - A. लोकतंत्र B. कुलीनतंत्र C. राजतंत्र D. भीड़तंत्र
8. एक्विनास ने तर्क और विश्वास के संबंध में क्या कहा?
 - A. दोनों विरोधी हैं B. तर्क श्रेष्ठ है C. विश्वास तर्क को पूर्ण करता है D. केवल विश्वास ही सत्य है

9. 'सुम्मा थियोलॉजिया' पुस्तक किसने लिखी?

A. सेंट ऑगस्टाइन B. अरस्तू C. सिसरो D. सेंट थॉमस एक्विनास

10. थॉमस एक्विनास के अनुसार संपत्ति का उपयोग किसके लिए होना चाहिए?

A. निजी संपत्ति-संचय B. धार्मिक अनुष्ठान C. जनकल्याण D. कर संग्रह

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 - C. उत्तर मध्य युग, 2 - C. अरस्तू, 3 -C. व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति, 4 - D. शाश्वत विधि, 5 - B. बाइबल, 6 - C. मूल पाप (Original Sin), 7- C. राजतंत्र, 8- C. विश्वास तर्क को पूर्ण करता है, 9 - D. सेंट थॉमस एक्विनास, 10- C. जनकल्याण

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन , उर्मिला शर्मा एवं एस के शर्मा
- पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन , ओ पी गाबा

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- इन्डू अध्ययन सामग्री
- वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट फ्रॉम अन्सिएन्ट ग्रीक्स टू मॉडर्न टाइम्स – शेफाली झा
- वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट – ब्रायन आर नेल्सन

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. थॉमस एक्विनास के राज्य संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. एक्विनास के विधि-सिद्धांत (Theory of Law) की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
3. "राज्य का उद्देश्य केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उन्नति है" — इस कथन के आलोक में थॉमस एक्विनास के राजनीतिक विचारों की समीक्षा कीजिए।
4. थॉमस एक्विनास द्वारा 'तर्क' और 'आस्था' के बीच स्थापित समन्वय का विश्लेषण कीजिए।
5. थॉमस एक्विनास को 'मध्य युग का अरस्तू' क्यों कहा जाता है? उनके राजनीतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में अरस्तू की छाप स्पष्ट कीजिए।

6. एक्विनास की दृष्टि में राजा की भूमिका और उत्तरदायित्वों को स्पष्ट कीजिए। उनके अनुसार आदर्श शासन व्यवस्था की विशेषताएँ क्या होनी चाहिए?

इकाई-8 मार्सीलियो ऑफ पेडुआ

इकाई की रूपरेखा

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 उद्देश्य
- 8.3 पृष्ठभूमि
 - 8.3.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 8.3.2 जीवन वृत्त
- 8.4. मार्सीलियो के राजनीतिक विचार
 - 8.4.1 डिफ्रेन्डर ऑफ पीस का संदर्भ
 - 8.4.2 दार्शनिक आधार – अरस्तूवाद और आवेरोइज़वाद
 - 8.4.3 राज्य का सिद्धान्त
 - 8.4.4 कानून एवं विधि का सिद्धान्त
 - 8.4.5 लोकप्रिय प्रभुसत्ता के बीज
 - 8.4.6 मार्सीलियो के विचारों का महत्व
- 8.5 सारांश
- 8.6 शब्दावली
- 8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (1275–1348) मध्यकालीन यूरोप के एक महत्वपूर्ण राजनीतिक चिंतक थे। मध्यकालीन यूरोप के उत्तरार्ध में चर्च और राज्य के बीच राजनीतिक संघर्ष के दौर में कई विचारकों ने चर्च द्वारा आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता पर प्रभुत्व के दावे को चुनौती दी। इटली में इस वैचारिक परंपरा में साहित्यकार एवं विचारक दांते अलघिएरी ने धार्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता के पृथक्करण की बात की। इस परंपरा में एक और इतालवी विचारक मार्सीलियो ऑफ पेडुआ ने अपनी प्रमुख रचना डिफेंडर ऑफ पीस में चर्च की सत्ता और शक्ति को सीमित रखने का विचार रखा साथ ही उनके विचारों में हम लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति भी पाते हैं। मार्सीलियो ने अरस्तू के दर्शन के आधार पर चर्च के सत्ता पर सर्वाधिकार के दावे का विरोध किया है। चर्च के लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप का विरोध और लोकप्रिय प्रभुसत्ता जैसे नवीन विचारों के प्रवर्तक होने के कारण कई विद्वान मार्सीलियो को चौदहवीं शताब्दी का सबसे मौलिक विचारक मानते हैं। जॉर्ज हरोल्ड सेबाइन ने डिफेंडर ऑफ पीस को मध्य-युग के एक महान कृति माना है। मार्सीलियो के राजनीतिक विचारों ने न केवल अपने समय के सत्ता-संघर्षों को वैचारिक आधार प्रदान किया, बल्कि ऐसी बौद्धिक परंपराओं की नींव भी रखी जो आगे चलकर आधुनिक राज्य की संकल्पना, विधि द्वारा शासन और जनप्रतिनिधित्व आधारित शासन व्यवस्था जैसे सिद्धान्तों के विकास में सहायक बनीं। उनके विचारों ने यूरोप में धर्म और राजनीति के पृथक्करण की दिशा में सोच को प्रेरित किया और इस प्रकार वे आधुनिक राजनीतिक चेतना के प्रारंभिक सूत्रधारों में गिने जा सकते हैं।

8.2 उद्देश्य

- इस इकाई में आप मार्सीलियो ऑफ पेडुआ के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानेंगे।
- इस इकाई के आप मार्सीलियो ऑफ पेडुआ के विचारों के दार्शनिक आधार को जानेंगे।
- आप मार्सीलियो ऑफ पेडुआ के राजनीतिक विचार और उनके प्रभाव को समझेंगे।

8.3 पृष्ठभूमि

8.3.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मध्यकालीन यूरोप में चर्च और राजाओं के बीच दीर्घकालिक शक्ति संघर्ष चला। इस संघर्ष के मूल में था पोप और चर्च द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ लौकिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च प्राधिकारी होने का दावा। पोप और चर्च के समर्थक पोप को पूरे ईसाई यूरोप का शीर्ष नेता (आध्यात्मिक एवं लौकिक)

होने का दावा करते थे। दूसरी तरफ उनके विरोधियों का यह मानना था की चर्च को केवल अध्यत्मिक क्षेत्र में सीमित रहना चाहिए। बारहवीं शताब्दी में यह संघर्ष चरम पर था। फ्रांसीसी राजाओं और पोप के बीच इस विवाद में पोप बॉनीफ़ेस अष्टम ने 1302 की उनम सेंक्टम आदेश-पत्र जारी कर यह घोषणा करी कि पोप आध्यात्मिक और लौकिक दोनों अधिकार-क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं और सभी ईसाई राजाओं की शक्तियाँ पोप के अधीनस्त हैं। परंतु इन दावों के बावजूद फ्रांसीसी राजाओं के दबाव में बॉनीफ़ेस के उत्तराधिकारी बेनेडिक्ट XI कि मृत्यु के बाद अगले 67 सालों के लिए पोप कि गद्दी को रोम से एविन्यों में स्थानांतरित करना पड़ा जिसे एविन्यों निर्वासन कहा जाता है। यह दिखाता है कि पोप के सर्वोच्च क्षेत्रधिकारी (प्लेनीट्यूडो पोटेस्टास) होने के दावे को राजाओं द्वारा स्वीकार कभी नहीं किया गया और उसका बलपूर्वक विरोध किया गया।

इस दौरान 1313 में होली रोमन एम्परर / पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) हेनरी सप्तम की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकार को लेकर विवाद छिड़ गया। लुईस ऑफ बवेरिया और फ्रेडरिक द फेअर दोनों ने होली रोमन एम्परर की गद्दी पर दावा किया। इस संघर्ष में लुईस ऑफ बवेरिया सफल रहे और उन्हें पवित्र रोमन सम्राट घोषित किया गया। पोप जॉन XXII ने लुईस ऑफ बवेरिया (लुईस चतुर्थ) को पवित्र रोमन सम्राट मनाने से इंकार कर दिया और यह भी दावा किया की पोप द्वारा इस चयन को मान्यता दिये बिना यह चयन अवैध होगा। इसके जवाब में लुईस ऑफ बवेरिया ने रोम की ओर कूच की और वहाँ खुद को पवित्र रोमन सम्राट के रूप में स्थापित किया। पवित्र रोमन सम्राट और पोप के बीच सत्ता संघर्ष ही मार्सीलियो ऑफ पेडूआ के अकादमिक और राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि बना।

8.3.2 जीवन वृत्त

मार्सीलियो (लेटिन नाम मार्सीलियो) का जन्म इटली के पाडुवा नगर में 1275 में हुआ था। उन्होंने अपने गृह नगर में चिकित्सा और धर्मशास्त्र का अध्ययन किया उसके बाद वह 1313 में पेरिस विश्वविद्यालय में अधीक्षक (rector) बनें। वहाँ उनकी मुलाक़ात अपने वैचारिक सहयोगी अरस्तूवादी जॉन ऑफ जांदून से हुई। जॉन ऑफ जांदून और मार्सीलियो दोनों ही अरस्तु से प्रभावित थे, विशेषकर आवेरोइज़ (ईबन रुशद) द्वारा अरस्तू की व्याख्या से। इस कारण सेबाइन द्वारा मार्सीलियो को आवेरोइज़वादी अरस्तूवाद का अनुयाई कहा गया है। मार्सीलियो की प्रमुख रचना डिफेंसोर पाकिस (Defensor Pacis) / डिफेन्डर ऑफ पीस अर्थात (शांति का संरक्षक) 1324 में पूर्ण हुई। चर्च द्वारा इस पुस्तक को चर्च की शक्तियों का विरोध माना गया। चर्च ने इस पुस्तक की आधिकारिक भत्सना (condemnation) भी की। इस कारण कैथॉलिक चर्च द्वारा उन्हें और जॉन ऑफ जांदून को 1327 में विधर्मी घोषित कर दिया गया। मार्सीलियो को पवित्र रोमन सम्राट लुईस

ऑफ बवेरिया (लुईस चतुर्थ) ने शरण दी। मार्सीलियो, लुईस चतुर्थ के साथ इटली गए जहां लुईस चतुर्थ को मिलान में आधिकारिक रूप से पवित्र रोमन सम्राट घोषित किया गया और फिर उन्हीं के साथ मार्सीलियो 1328 में रोम भी गए। तत्कालीन पोप जॉन XXII ने लुईस चतुर्थ को पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) के रूप में स्वीकारने से माना कर दिया था। लुईस ने इस कारण जॉन XXII को पदच्युत करने के लिए एक प्रतिद्वंदी पोप निकोलस पंचम को पोप की गद्दी पर स्थापित किया। रॉम के आभिजात्य वर्ग ने लुईस चतुर्थ के इस कदम का समर्थन किया परंतु कुछ समय बाद वह लुईस से विमुख हो गए और उन्हें रॉम छोड़ वापस बवेरिया जाना पड़ा। अपने संरक्षक के साथ मार्सीलियो को भी इटली छोड़ कर वापस जर्मनी जाना पड़ा। 1348 में बवेरिया में ही मार्सीलियो की मृत्यु हो गयी।

यूरोपीय धर्मसुधार (Reformation) के दौरान प्रोटेस्टंट संप्रदाय के विद्वानों के बीच डिफेन्डर ऑफ पीस पुस्तक का प्रचार हुआ क्योंकि इसमें पोप द्वारा राजसी और लौकिक शक्तियों के अधिग्रहण की आलोचना की गयी थी।

पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) और पोप के बीच सत्ता संघर्ष ही मार्सीलियो के अकादमिक और राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि बना। इस सत्ता-संघर्ष के मूल में था यह प्रश्न की मध्यकालीन ईसाई यूरोप (Christendom) का नेतृत्व कौन करेगा - पवित्र रोमन सम्राट या फिर पोप। इस दौरान राजनीतिक संघर्ष के साथ ही दोनों ही पक्षों के विद्वानों द्वारा अपने पक्ष और विपक्ष में विवादात्मक पुस्तकें लिखी गईं। इसी कड़ी में मार्सीलियो ने पवित्र रोमन सम्राट के पक्ष में डिफेन्डर ऑफ पीस लिखी।

8.4 मार्सीलियो के राजनीतिक विचार

8.4.1 डिफेन्डर ऑफ पीस का संदर्भ

इटली के मध्ययुगीन राजनीतिक विचारक पोप और चर्च को इटली के राजनीतिक विगठन का कारण मानते थे। यह विचार हम मार्सीलियो से पूर्व दांते के विचारों में और मार्सीलियो के बाद मेक्यावेली के विचारों में भी देखते हैं। इटली मध्य-काल में कई छोटे राज्यों और नगर राज्यों में बंटा हुआ था। पोप और चर्च का इटली की राजनीति में भारी दखल था साथ ही पोप और चर्च इटली के कुछ क्षेत्रों में राजा की तरह लौकिक सत्ता भी चलते थे इन क्षेत्रों को पेपल राज्य की संज्ञा दी जाती थी। चर्च राजनीतिक मामलों में एक धार्मिक संस्था की तरह नहीं परंतु एक लौकिक राजा की तरह ही व्यवहार करता था। चर्च को यह आशंका थी की इटली का किसी राजा द्वारा राजनीतिक एकीकरण चर्च के हितों के विरुद्ध जाएगा, इस कारण चर्च ने इटली में राजनीतिक एकीकरण का कभी समर्थन नहीं किया। मार्सीलियो चर्च के इस साम्राज्यवाद और लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। लूईस चतुर्थ

के पोप के साथ संघर्ष ने मार्सीलियो को इस विरोध की अभिव्यक्ति करने का अवसर प्रदान किया। इसी लक्ष्य से मार्सीलियो ने 1324 में डिफ्रेन्डर ऑफ पीस प्रकाशित की।

डिफ्रेन्डर ऑफ पीस पुस्तक लूइस चतुर्थ को समर्पित थी। इसके पुस्तक के पीछे मार्सीलियो का उद्देश्य था एक धार्मिक संस्था के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तरीके से लौकिक सरकार और राजनीति में हस्तक्षेप के अधिकार के दावों का खंडन करना।

8.4.2 दार्शनिक आधार – अरस्तूवाद और आवेरोइज़वाद

डिफ्रेन्डर ऑफ पीस का दार्शनिक आधार अरस्तू के विचार हैं। मार्सीलियो, आवेरोइज़ (इब्न रुशद) के द्वारा की गयी अरस्तू की व्याख्या के अनुयायी थे। अरस्तू द्वारा पॉलिटिक्स में दिये गए क्रांति एवं सामाजिक कलह के कारणों पर विचार करते हुए मार्सीलियो कहते हैं की अरस्तू सामाजिक और राजनीतिक कलह के एक कारण से अनभिज्ञ थे और वह है पोप द्वारा राजाओं के ऊपर सर्वोच्च शक्ति का दावा जिस कारण पूरा यूरोप और विशेषकर इटली कलह से जूझ रहा है। मार्सीलियो के अनुसार इसका निदान है अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य की संकल्पना। अरस्तू के अनुसार राज्य एक आइसा समुदाय है जो की अपनी भौतिक और नैतिक दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम और आत्मनिर्भर है। इस विचार की व्याख्या में मार्सीलियो आवेरोइज़ (इब्न रुशद) के विचारों का सहारा लेते हैं। मध्यकालीन आवेरोइज़वाद के प्रमुख तत्व थे प्रकृतिवाद और तर्कवाद। ईसाई धर्मशास्त्रों में पूर्ण आस्था रखते हुए आवेरोइज़वादी यह मानते थे की धर्मशास्त्रों और तार्किक दर्शन दोनों वैध ज्ञान के अलग अलग रूप हैं। इसे दो सत्यों का सिद्धान्त (two-fold truth) कहा गया है। नैतिकता में भी आवेरोइज़वादी धार्मिक नैतिकता पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे परंतु एक धर्मनिर्पेक्ष नैतिकता की ओर झुकते थे। धार्मिक शास्त्रों पर वह पूर्ण विश्वास की बात करते थे परंतु उनका यह मानना था की धार्मिक नैतिकता के बिना भी अरस्तू द्वारा एथिक्स में प्रतिपादित नैतिकता के सिद्धान्तों पर चल कर एक अच्छा जीवन जिया जा सकता है। इस दृष्टिकोण को वह राजनीतिक प्रश्नों में भी लाते हैं। धार्मिक एवं अध्यतामिक तर्कों का अपना स्थान है जो की परलोक के प्रश्नों के समाधान में काम आता है इहलौकिक प्रश्नों में धार्मिक तर्क और विश्वासों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

8.4.3 राज्य का सिद्धान्त

अरस्तू की तरह ही मार्सीलियो भी मनुष्य को एक ऐसा प्राणी मानता है जिसके विभिन्न भागों का एक विशिष्ट कार्य हैं। जब मनुष्य के सभी शारीरिक भाग और उसकी आत्मा सहयोग, संतुलन और समरसता से कार्य करते हैं, तभी मनुष्य स्वस्थ रूप से कार्य कर पता है। इस दृष्टिकोण को समग्र (holistic) दृष्टिकोण कहा जाता है। उसी प्रकार राज्य भी एक जीवित प्राणी की तरह ही है, उसके भी अलग-अलग भाग हैं और हर भाग का एक विशिष्ट कार्य है जब यह सभी भाग संतुलन, सहयोग

और समरसता से कार्य करते हैं तो राज्य स्वस्थ रूप से चल पता है। इस सिद्धान्त को राज्य का जैविक सिद्धान्त (organic theory) कहा जाता है। कलह तब होती है जब एक भाग अपना कार्य सही ढंग से नहीं कर पता या फिर दूसरे भाग के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगता है।

अरस्तू की तरह मार्सिलियो भी राज्य के विभिन्न भागों का विवरण देता है। कृषक और कारीगर जो की भौतिक आवश्यकताओं और राजस्व की पूर्ति करते हैं और सैन्य बल, अधिकारी और पुरोहित वर्ग जो की सरकार के घटक तत्व हैं। मार्सिलियो के अनुसार पुरोहित वर्ग राजी का एक ऐसा भाग है जिसके कार्य क्षेत्र को लेकर मतेक्य नहीं है क्योंकि धर्म के आध्यात्मिक और परलौकिक उद्देश्यों की तार्किक व्याख्या कर पाना संभव नहीं है। मार्सिलियो के अनुसार पुरोहित वर्ग को उन चीजों को जानना और समझना चाहिये जो की ईसाई धर्मशास्त्रों के अनुसार परलोक में मोक्ष (salvation) प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं, इन चीजों का समझना और समाज के बाकी वर्गों इस बारे में ज्ञान देना ही पुरोहित वर्ग का कार्य क्षेत्र है। पुरोहित वर्ग अपने सीमित कार्य क्षेत्र के बाहर राज्य के बाकी अंगों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

मध्यकालीन यूरोप जैसे घोर धार्मिक समाज में धर्म और धार्मिकता को पूर्णतः अध्यात्म और परलोक के क्षेत्र में सीमित करने की बात एक क्रांतिकारी बात थी। राज्य के क्षेत्र में मार्सिलियो, चर्च और पुरोहित वर्ग को बाकी सभी सामान्य संगठक भागों में से एक मानता है। जिस प्रकार राज्य व्यापार और कृषि पर नियंत्रण रखता है उसी प्रकार राज्य को पुरोहित वर्ग पर भी नियंत्रण रखना चाहिये। इस प्रकार मार्सिलियो पोप और चर्च के राजाओं के ऊपर सर्वाधिकार के दावों का खंडन करता है।

8.4.4 कानून एवं विधि का सिद्धान्त

मार्सिलियो के अनुसार कानून मूलतः दो प्रकार के होते हैं दैवीय कानून और मानवीय कानून।

दैवीय कानून ईश्वर का सीधा आदेश है, इसमें मानवीय विचार विमर्श का कोई स्थान नहीं है। यह वह कृत्य और निषेध हैं जो मनुष्य को परलोक में सहायक होंगे। इसके उल्लंघन का दंड भी ईश्वर द्वारा परलोक में ही दिया जाएगा।

मानवीय कानून नागरिक समूह का आदेश है। किसी राज्य में जो समूह विधायिका का कार्य करता है उसके विमर्श से निकलने वाले आदेश मानवीय कानून हैं, यह वह कृत्य और निषेध हैं जो एक अच्छे जीवन की परिस्थिति के लिए आवश्यक हैं, जो की राज्य का उद्देश्य है। मानवीय कानून के उल्लंघन का दंड विधायिका द्वारा निर्धारित सजा या जुर्माने के रूप में अपराधी को दिया जाता है।

दैवीय कानून के उल्लंघन का दंड ईश्वर इस जीवन के बाद परलोक में देगा अर्थात दैवीय कानून के उल्लंघन की सजा इस जीवन में लौकिक प्राधिकारियों द्वारा दिये जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। लौकिक सरकार का कर्तव्य है मानवीय कानून का प्रवर्तन न की दैवीय कानून का।

मध्यकालीन यूरोप एक घोर धार्मिक समाज था। वहाँ कानून व्यवस्था धार्मिक शास्त्रों पर आधारित थी। न्याय व्यवस्था में चर्च और पुरोहित वर्ग का भारी दखल था। मार्सिलियो इसका विरोध करते हैं उनके अनुसार मानवीय कानून समाज की सुविधा के लिए मनुष्य द्वारा रचित है अतः लौकिक प्राधिकारी ही इसके प्रवर्तक हैं। दैवीय कानून का संबंध परलोक से है इसके उल्लंघन का दंड भी इस जीवन के बाद परलोक में ही मिलेगा अतः पुरोहित वर्ग और धर्माधिकारियों द्वारा लौकिक कानून में हस्तक्षेप का कोई स्थान नहीं है वह ज़्यादा से ज़्यादा दैवीय कानून के बारे में लोगों को अवगत करा सकते हैं और उन्हें उसे मनाने के लिये प्रेरित कर सकते हैं।

कानून के सिद्धान्त की व्याख्या में मार्सिलियो द्वारा कानून को वैधता प्रदान करने वाले तत्व पर भी विचार किया गया है। दैवीय कानून तो ईश्वर का आदेश है और क्योंकि उसका दंड विधान परलोक में ईश्वर द्वारा ही किया जाएगा उसे इस कारण उसे इस लोक में पूर्णतः कानून भी नहीं माना जा सकता।

दूसरी तरफ मानवीय कानून पर मार्सिलियो कहते हैं की इस कानून का उद्गम जनता की इच्छा (will) से सीधे या फिर उसके द्वारा नियत प्रतिनिधि सभा में विमर्श से निकले आदेश में है। जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नागरिक वर्ग के सबसे महत्वपूर्ण भाग द्वारा किया जाता है। इस प्रकार निर्धारित विधायिका के आदेशों में नियत कृत्य या निषेध ही मानवीय कानून हैं। कानून को जनता के आदेश के रूप में देखने का अर्थ है की विधिक प्राधिकार का वैधानिक स्रोत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जनता खुद है। यह ही मार्सिलियो के लोकप्रिय प्रभुसत्ता (popular sovereignty) के सिद्धान्त का आधार है।

8.4.5 लोकप्रिय प्रभुसत्ता के बीज

मार्सिलियो के विचारों में लोकप्रिय प्रभुसत्ता (popular sovereignty) के सिद्धान्त की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति मिलती है। यूं तो मार्सिलियो लोकप्रिय प्रभुसत्ता जैसे शब्दों का प्रयोग स्वयं नहीं करते परंतु उनके द्वारा विधि की वैधानिकता पर दिये गए विचारों में हम लोकप्रिय प्रभुसत्ता के बीजों को पाते हैं। उनके अनुसार वैधानिक विधि का मूल स्रोत जनता ही है। चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों की सभा हो या फिर उनके प्रतिनिधि। मार्सिलियो के अनुसार राज्य की कार्यपालिका और न्यायपालिका विधायिका द्वारा चयनित होने चाहिए यह चयन हर राज्य के अपने चलन के अनुसार होना चाहिए। कार्यपालिका का कम है की वह यह देखे की राज्य के विभिन्न अंग सहयोग और समरसता से अपने विशिष्ट कार्य को निभाएँ। उपरोक्त वर्णित राज्य व्यवस्था के कारण कुछ विचारक

मार्सिलियो को लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को प्रदत्त करने वाला प्रथम मध्ययुगीन विचारक मानते हैं

वहीं कुछ विचारकों का मानना है की मार्सिलियो के विचारों से हम बेवजह आधुनिक निष्कर्ष निकाल लेते हैं। मैकक्लेलेंड का मानना है की मार्सिलियो द्वारा वर्णित विधि-निर्माण की प्रक्रिया उनके गृह राज्य पेडूआ में प्रचलित राज्य व्यवस्था का वर्णन है। पेडूआ जैसे इतालवी नगर राज्यों में संभ्रांत और प्रभावी नागरिकों की सभा ही विधि-निर्माण का कार्य करती थी। इस प्रक्रिया को आधुनिक समय के अनुसार लोकप्रिय प्रभुसत्ता का उदाहरण नहीं माना जा सकता। ऐसा कर हम एक मध्यकालीन विचारक के विचारों पर अपने आधुनिक पूर्वाग्रह थोप रहे हैं।

8.4.6 मार्सिलियो के विचारों का महत्व

मार्सिलियो ऑफ पेडुआ के राजनीतिक विचारों का महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने मध्यकालीन यूरोप में चर्च के लौकिक सत्ता में सर्वाधिकार के दावे को तर्कसंगत ढंग से चुनौती दी और राज्य को धर्म से स्वतंत्र एक व्यवस्थित, आत्मनिर्भर संस्था के रूप में परिभाषित किया। डिफेंडर ऑफ पीस में उन्होंने चर्च के हस्तक्षेप को कलह का कारण बताते हुए धर्म को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में सीमित रखने की वकालत की। उनके विचार न सिर्फ समकालीन सत्ता संघर्षों (जैसे पोप और पवित्र रोमन सम्राट के बीच विवाद) में उपयोगी सिद्ध हुए, बल्कि यूरोपीय धर्मसुधार (Reformation) के दौरान भी प्रोटेस्टंट विचारकों द्वारा उनके चर्च विरोधी विचारों और तर्कों का सहारा लिया। इस तरह मार्सिलियो के लेखन ने धार्मिक और राजनीतिक सत्ता के पृथक्करण, धर्मनिरपेक्ष राज्य और लोकप्रिय प्रभुसत्ता जैसे आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों के विकास में एक महत्वपूर्ण अग्रदूत की भूमिका निभाई।

8.5 सारांश

मार्सिलियो ऑफ पेडुआ का राजनीतिक चिंतन मध्यकालीन यूरोप के पोप और चर्च के लौकिक क्षेत्र में सर्वाधिकार के दावे का एक सुसंगत और तर्कसंगत प्रतिपक्ष प्रस्तुत करता है। उन्होंने चर्च के लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप और पोप के सर्वाधिकार के दावे को चुनौती देकर चर्च और राज्य के पृथक्करण का सिद्धांत स्पष्ट किया। वह अपनी रचना डिफेंडर ऑफ पीस में अरस्तूवादी दृष्टिकोण के माध्यम से राज्य को एक जैविक इकाई के रूप में देखते हैं, जिसमें हर अंग का अपना निश्चित कार्य क्षेत्र है। राज्य के हर अंग को अपने कार्य क्षेत्र में सीमित रहना चाहिए अगर कोई भाग दूसरे भाग के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो यह राज्य के स्वस्थ के लिए दुष्कर होता है। मार्सिलियो चर्च द्वारा लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप को यूरोप में फैले कलह का कारण मानते हैं।

मार्सीलियो ने दैवीय और मानवीय कानून के बीच स्पष्ट भेद रेखांकित किया, यह बताते हुए कि लौकिक सरकार का कार्य केवल मानवीय कानून का प्रवर्तन है न कि धार्मिक आदेशों का। उनके विचारों में विधि की वैधता का स्रोत जनता की इच्छा है, जो लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धांत की एक प्रारंभिक अभिव्यक्ति मानी जाती है। हालांकि यह भी स्वीकार करना होगा कि उनकी "जनता" की अवधारणा उस समय के नगर राज्यों के संभ्रांत नागरिकों तक सीमित थी। फिर भी, चर्च के राजनीतिक प्रभुत्व के आलोचक के रूप में और लौकिक सत्ता के धर्मनिरपेक्ष उद्देश्यों के प्रवर्तक के रूप में मार्सीलियो का योगदान मध्ययुगीन यूरोप की राजनीतिक विचारों में एक मौलिक योगदान है। उनकी सोच ने न केवल समकालीन सत्ता संघर्षों में बौद्धिक आधार प्रदान किया, बल्कि यूरोपीय राजनीतिक विकास की उन धाराओं को भी प्रेरित किया जो आगे चलकर आधुनिक राज्य, विधि के शासन और लोकप्रिय प्रतिनिधित्व की अवधारणाओं में विकसित हुईं।

8.6 शब्दावली

1. **पोप** - रोमन कैथोलिक चर्च के सर्वोच्च धार्मिक नेता।
2. **लौकिक क्षेत्र** - सांसारिक/राजनीतिक क्षेत्र, धर्म से इतर शासन और प्रशासन का क्षेत्र।
3. **उनम सेंक्टम आदेश-पत्र (Unam Sanctam)** - 1302 में पोप बॉनीफेस अष्टम द्वारा जारी आदेश जिसमें पोप की धार्मिक और लौकिक सर्वोच्चता का दावा किया गया।
4. **एविन्यों** - फ्रांस का शहर जहाँ 14वीं सदी में पोप की गद्दी रोम से स्थानांतरित कर दी गई।
5. **प्लेनीट्यूडो पोटेस्टास** - लैटिन शब्द, अर्थ – "संपूर्ण शक्ति", पोप की पूर्ण सर्वोच्चता का सिद्धांत।
6. **विधर्मी (Heretic)** - चर्च के मत से भटका या उसके आदेशों का विरोध करने वाला व्यक्ति।
7. **आवेरोइज़वाद (Averroism)** - इब्न रुशद (आवेरोइज़) की अरस्तू की व्याख्या से प्रेरित दार्शनिक दृष्टिकोण जिसमें तर्क और धर्म को अलग माना जाता है।
8. **दो सत्यों का सिद्धांत (Two-fold truth)** - यह मान्यता कि तर्क और धर्म दोनों सत्य के अलग-अलग रूप हैं और दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं।
9. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular sovereignty)** - यह विचार कि कानून और सत्ता की वैधता जनता की इच्छा से उत्पन्न होती है।
10. **पेपल राज्य (Papal States)** - इटली के वे क्षेत्र जिन पर पोप का प्रत्यक्ष लौकिक शासन था।

8.7 अभ्यास प्रश्नों की सूची

1. एविन्यों निर्वासन (Avignon Papacy) में पोप की गद्दी रोम से कितने वर्षों के लिए स्थानांतरित हुई?

- A. 50 वर्ष
- B. 67 वर्ष
- C. 100 वर्ष
- D. 25 वर्ष

2. मार्सिलियो की प्रमुख किताब का नाम क्या है ?

- A. डिफेन्डर ऑफ पीस
- B. सिटी ऑफ गॉड
- C. प्रिंस
- D. रिपब्लिक

3. मार्सिलियो किस दार्शनिक से सबसे अधिक प्रभावित थे ?

- A. प्लेटो
- B. सुक्रात
- C. सिसैरो
- D. अरस्तू

4. मार्सिलियो के अनुसार पुरोहित वर्ग का कार्य क्या होना चाहिए?

- A. कर वसूली करना
- B. सेना का संचालन करना

-
- C. परलोक और मोक्ष का ज्ञान देना
- D. कानून बनाना
5. मार्सीलियो किस शासक के पक्ष में थे?
- A. फ्रांसीसी राजा
- B. लुईस ऑफ बवेरिया (लुईस चतुर्थ)
- C. फ्रेडरिक
- D. इंग्लैंड के राजा

उत्तर

1. - B, 2.- A, 3.- D, 4.- C, 5.- B.

8.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ए हिस्टरी ऑफ पॉलिटिकल थॉट – जॉर्ज हरोल्ड सेबाइन
2. ए हिस्टरी ऑफ पॉलिटिकल थॉट: द मिडिल एजेज़ – वाल्टर उल्मन
3. ए हिस्टरी ऑफ वेस्टर्न पॉलिटिकल थॉट – जे एस मैक क्लेलेंड
4. राजनीति विज्ञान विश्वकोष – ओ पी गाबा

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. पॉलिटिकल थॉट इन यूरोप, 1250-1450 – एंथनी ब्लैक
2. क्राइसिस ऑफ चर्च एंड स्टेट – ब्रायन टिअर्नी

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धांत के प्रारंभिक बीज मार्सीलियो के विचारों में कैसे देखने को मिलते हैं? क्या उनके विचारों को आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत के संदर्भ में समझना उचित होगा?
2. मार्सीलियो के कानून के सिद्धांत में दैवीय और मानवीय कानून के बीच अंतर कैसे प्रस्तुत किया गया है

इकाई-9 :परिषदीय आन्दोलन

- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 उद्देश्य
- 9.3 परिषदीय आन्दोलन: परिचय
- 9.4 परिषदीय आन्दोलन प्रादुर्भाव के कारण
 - 9.4.1 परिषदीय आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य
 - 9.4.2 परिषदीय आन्दोलन के परिषदे
 - 9.4.3 परिषदीय आन्दोलन के असफलता के कारण
 - 9.4.4 परिषदीय आन्दोलन के विचारक
 - 9.4.5 परिषदीय आन्दोलन का महत्त्व
- 9.5 सारांश
- 9.6 शब्दावली
- 9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 9.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना:

मार्सीलियों के मृत्यु के पश्चात लगभग 850 वर्ष के संक्रमण-कालीन युग में घटित अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं में परिषदीय आन्दोलन सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना थी। पोपशाही का हास और चर्च परिषदों का उदय अर्थात् चर्च का शासन और परिषदीय सिद्धान्त का विकास हुआ। परिषदीय आन्दोलन 14वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर लगभग अगली एक शताब्दी तक बहुत ही प्रबल रहा। परिषदीय सिद्धान्त के प्रतिपादक का विचार था कि वे परिषद को चर्च शासन के एक ऐसे अभिन्न अंग के रूप में स्थापित किया जाए जो पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर कर सके जब परिषदीय आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ तो सम्पूर्ण ईसाई समाज दो भागों में विभाजित हो गया और ऐसी परिस्थितियों में प्रतिद्वन्दियों के मध्य और पोप के दावों के औचित्य पर वाद-विवाद होने लगा और यह सवाल उठने लगा कि ऐसी कौन सी लौकिक शक्ति है जो चर्च की सत्ता के विवादों को निपटा सके। परिषदीय आन्दोलन के माध्यम से चर्च की सत्ता को दूर करके उसमें एकता का संचार करना पोप की निरकुंशता को मिटाकर उसकी प्रभुता का स्थान चर्च की सामान्य परिषद को देना और इस तरह चर्च प्रशासन में सुधार करना ही परिषदीय आन्दोलन का विकास हुआ।

9.2 उद्देश्य:

- परिषदीय आन्दोलन के विकास के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारको के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख उद्देश्यों के बारे में जान सकेंगे।
- परिषदीय आन्दोलन के महत्त्व के बारे में जान सकेंगे।

9.3 परिषदीय आंदोलन एक परिचय:

मध्ययुग के अन्तिम दौर तथा चौदहवीं शताब्दी के अंत में परिषदीय आन्दोलन अस्तित्व में आया। परिषदीय आन्दोलन चर्च के संगठन के अन्तर्गत पोप की अनन्य सत्ता की जगह एक प्रतिनिधि चर्च परिषद की सत्ता स्थापित करना था।

उस समय चर्च को मनुष्यों के समाज के तरफ देखा जाने लगा। लोगों ने यह अनुभव किया की उसका संगठन भी अन्य मानव समाजों के अनुरूप होना चाहिए। इस प्रवृत्ति से ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिये जिनके आधार पर आगे चलकर राजा की सत्ता की जगह प्रतिनिधि सांसदों की सत्ता को स्थापित करने का रास्ता खुल गया। मध्य युग के अन्तिम दौर में धार्मिक विषयों के चिन्तन का महत्त्व कम होने लगा। धीरे-धीरे बौद्धिक दृष्टिकोण में एक नया मोड़ आ गया। इस दौर में आलोचनात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। परिषदीय आन्दोलन को दो अवस्थाओं में विभाजित किया गया प्रथम अवस्था वह थी जान आफ पेरिस (John of Paris), मार्सिलियो आफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओखम (William of Ockham) आदि विचारकों ने कहा कि चर्च की अन्तिम शक्ति का निवास सामान्य परिषद में है। द्वितीय अवस्था में परिषदीय सिद्धान्त ने साकार रूप ग्रहण किया, और चर्च के शासन का क्या रूप हो? इस समस्या का हल करने के लिए तीन परिषदों का गठन किया गया। यह परिषदें पीसा की परिषद councils of Pisa (1409), कान्स्टेन्स की परिषद Constance (1414–18), बेसिल की परिषद Basle (1431–49) के नाम से जानी जाती हैं।

9.4 परिषदीय आन्दोलन प्रादुर्भाव के कारण:

परिषदीय आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कई कारण थे, जो इस प्रकार हैं-

- 1- **चर्च की महान फूट (great schism of church):** इस आन्दोलन का प्रथम प्रमुख कारण चर्च की सत्ता में आपसी मतभेद था। संघर्ष भेद की यह स्थिति 1378 ई० से 1417ई० तक चर्च और पोपों की शक्ति और सम्मान निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। 1378 ई० में पोप ग्रेगरी सप्तम की मृत्यु हो गयी तब जनता ने निर्वाचन में अधिकांश कार्डिनलो ने इटली निवासी अर्बन षष्ठम् को पोप चुना गया परन्तु फ्रान्स ने इन्हे स्वीकार नहीं किया। फ्रान्स के सम्राट जेम्स फिलिप ने पोप ग्रेगरी एकादश के चुनाव को अवैध घोषित किया। और फ्रान्स के धर्माधिकारी क्लीमेण्ट सप्तम के नाम से पोप पद पर नियुक्त कर दिया गया। जब एक पोप की जगह दो-दो पोप रहने लगे तो आपसी मतभेद और बढ़ गया तथा दोनों अपने को न्याय सम्मत बताने लगे। प्रत्येक ने स्वयं अपने को ईसा का प्रतिनिधि घोषित किया। दोनों पोप ने अपने-अपने पृथक-पृथक सिद्धान्त एवं अलग-अलग विषय तय किये। अलग अलग अधिकारियों के सानिध्य में रहने लगे। सम्पूर्ण ईसाई समाज दो भागों में

विभाजित हो गया। सभी देशों में फ्रान्स ने एक्सिनोन के पोप का समर्थन किया। इटली और फ्रान्स के शत्रु देश ने रोम के पोप का समर्थन किया। जब ये परिस्थितियाँ पैदा हुईं तो पोप के दावों और उसके औचित्य पर वाद विवाद होने लगा। दोनों पक्षों की इस स्थिति से निपटने के लिए एक परिषद बुलाई गई, इस परिषद ने दोनों पोप को अपदस्त कर एक नए पोप का निर्वाचन किया परन्तु दोनों पोप में आपसी संघर्ष जारी रहा और दोनों में से किसी ने नए पोप के सत्ता को स्वीकार नहीं किया।

- 2- **पोप के जीवन में आई अनैतिकता (immorality in the pope's life)** परिषदीय आन्दोलन का दूसरा प्रमुख कारण था कि उस समय पोप का नैतिक पतन हो चुका था। वाईक्लिफ (Wycliff) तथा हस (John Huss) नामक विद्वानों ने चर्च की कमियों तथा पोप के भ्रष्ट जीवन पर प्रकाश डाला। दोनों विद्वानों की रचनाओं को पढ़कर समाज में क्रान्ति पैदा हो गयी। इससे भी सामान्य परिषद अस्तित्व में आयी।
- 3- **पोप की निरकुश सत्ता** सभी के लिए सरदर्द बन चुकी थी। पोप के निरकुश सत्ता के लिए चर्च में किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। पोप के कहे शब्द ईश्वर के समान थे। ईसाई और गैर ईसाई समाज पोप के अतिवादी जीवन से छुटकारा पाना चाहते थे। इसी स्थिति से निपटने के लिए परिषदीय आन्दोलन को सबल बनाया गया।
- 4- **पोप के पास अथाह धन और सम्पत्ति:** वह भोग विलास का जीवन व्यतीत करता था। थामसन ने कहा है कि पोप की आय यूरोप के लगभग सभी राजाओं और बिसपों की आय से कई गुना अधिक थी। पोप की सम्पत्ति पर किसी को किसी प्रकार का हक नहीं था। अतः जब चर्च के सुधार की बात की गई तो तब पोप के सही सम्पत्ति के सही उपयोग की समस्या सामने आयी और उसी स्थिति से उबरने के लिए परिषदीय आन्दोलन का उदय हुआ।
- 5- **विद्वानों की आलोचना:** जान गर्सन मार्सिलियों विलियम आफ ओखम, दाँते बाईक्लिफ जैसे विद्वानों ने पोप और चर्च की सत्ता की कड़ी आलोचना की और उन विद्वानों का कहना था कि पोप एक मानव है और गलती एक मनुष्य में होना स्वभाविक है। अतः पोप की सत्ता को नियन्त्रित किया जाय। और ऐसी व्यवस्था की जाए यूरोप के राष्ट्रीय एकता में बाधा न बन सके। पोप और चर्च के गन्दे रवैये के कारण लोगों का विश्वास उठ गया था। इससे भी परिषदीय आन्दोलन को बढ़ावा मिला।
- 6- **पोप के विलासिता से तंग आकर लोगों ने एकमात्र हल परिषद में पाया।** स्टेट्स जनरल के सुझाव एवं प्रतिनिधित्व की धारणा को सरकार के इस विचार का लोगों ने समर्थन किया। एक व्यक्ति एक पोप की धारणा को लोगों ने स्वीकार किया। किसी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सार्वजनिक जीवन का किसी एक व्यक्ति के द्वारा अपहरण नहीं किया जा सकता।

- 7- मध्य युग के अरस्तू के विचारों के पुट दिखाई देने लगे। यूरोप में भी पुनः जागृति का सन्देश फैलने लगा। जब रूढ़िवादी विचारधारा के प्रति जबरदस्त टक्कर होने लगी तो पोप के छक्के छूटने लगे। पोप के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार भी परिषदीय आन्दोलन का श्री गणेश हो गया।
- 8- निश्चित सिद्धान्तों का निर्माण: मार्सिलियो ऑफ पेडुआ एवं विलियम जान ने पोप के लिए निश्चित सिद्धान्तों का निर्माण किया। पोप उसे मानने को कतई तैयार नहीं था। यही कारण था कि उसकी निरंकुशता पर लगाम लगाने के लिए परिषदीय आन्दोलन सार्वजनिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

9.4.1 परिषदीय आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य

परिषदीय आन्दोलन के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित है-

- 1- पोप में किसी प्रकार की प्रभुसत्ता निहित नहीं है। चर्च की प्रभुसत्ता सामान्य परिषद में निहित है।
- 2- पोप चर्च का कर्ता धर्ता मात्र है। चर्च के लिए कानून निर्माण का कार्य सामान्य परिषद में निहित है। और उसी कानून के अन्तर्गत पोप की सत्ता काम करती है।
- 3- पोप के आदेश सदैव मान्य नहीं है। पोप का आदेश तभी माना जाता है जब चर्च की सामान्य परिषद उस आदेश पर मुहर लगा देती है। पोप अपने अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता।
- 4- पोप मनुष्य है। अतः वह भी गलती कर सकता है।
- 5- धार्मिक विषयों पर भी अन्तिम निर्णय सामान्य परिषद को माना जायेगा, पोप का नहीं। पोप मात्र चर्च का प्रतिनिधि है। पोप के अभाव में विश्व का उद्धार हो सकता है लेकिन चर्च के अभाव में नहीं।

उद्देश्य:

- 1- चर्च के आपसी मतभेद को दूर करके उसमें एकता का संचार करना।
- 2- चर्च में फैले भ्रष्टाचार को रोकना उसका निराकरण करना, चर्च की पूर्वकालीन प्रतिष्ठा को प्राप्त करना।
- 3- पोप की तानाशाही को समाप्त करना एवं चर्च की प्रभुता परिषद को देना, नई प्रशासनिक व्यवस्था लागू करना।
- 4- चर्च की अपार सम्पत्ति पर समुचित नियन्त्रण स्थापित करते हुए धार्मिक कार्यों के लिए सदुपयोग की गारण्टी करना।
- 5- परिषदीय आन्दोलन के माध्यम से नैतिक हास को रोककर गौरव प्रदान करना।

9.4.2 परिषदीय आन्दोलन की परिषदें

इस आन्दोलन के सिद्धान्त और उद्देश्य को व्यवहारिक रूप देने के लिए परिषदों का गठन किया गया। जो इस प्रकार है-

पीसा की परिषद councils of Pisa: (1409) - इस परिषद को न किसी सम्राट न किसी पोप न किसी पादरी तथा न किसी चर्च के अधिकारियों ने आमन्त्रित किया था। बल्कि पत्र व्यवहार के माध्यम से पोप के कार्डिनलो ने पीसा में परिषद के लिए आमन्त्रित किया था। चर्च को परिषद घोषित किया गया तथा जान गर्सन ने कहा कि अब तक पोप अपने कार्यों में पूरी तरह असफल रहा इसलिए उसने कभी भी इस तरह के परिषद के निर्माण की चर्चा तक नहीं की इसलिए पोप के आपसी वैमनस्य का अन्त करने के लिए इस परिषद का निर्माण किया जायेगा। पीसा की परिषद में 26 कार्डिनल तथा 4 पैट्रिआर्क 82 आर्कविशव 80 विशप तथा पादरी पोप चर्च के अधिकारी आदि मौजूद थे। जब दोनों पोप पीसा की परिषद में उपस्थित नहीं हुए तो अपने आप उन्हें अपदस्थ मान लिया गया और नये पोप का नाम एलेक्जण्डर पंचम दिया गया। दोनों पोप ने स्वेच्छापूर्वक हटने से मना कर दिया। और तीन पोप हो गये। आपसी मतभेद समाप्त होने के बजाय और बढ़ गया।

कान्स्टेन्स की परिषद: councils of Constance (1414-18) - परिषदीय सिद्धान्त का यूरोप के विचारको ने समर्थन किया, जान गर्सन ने पोप की समस्याओं के समाधान के लिए प्रतिनिधि परिषद बुलाने पर बल दिया परिषद (1414-18) तक चला। इसमें केवल विद्वान तथा उच्च कोटी के पादरी भी सम्मिलित थे। साधारण पादरी भी उपस्थित थे तथा राजाओं का भी एक दल था। राजाओं के एक प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इस परिषद को आमन्त्रित करने के प्रमुख उद्देश्य था। पोप से सम्बन्धित चर्च के विच्छेद का अन्त करना। धर्महीनता को समाप्त करना। चर्च में सुधार करना। इस परिषद में तीनों पोपों के प्रतिनिधि 29 कार्डिनल 22 आर्कविशप, 850 विशप, 800 मठाधीश, 300 धर्मशास्त्री, 26 राजा, 840 कुलीन जमीदार, 20 विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि तथा 4000 पुरोहित थे। पोप जान इस परिषद में उपस्थित नहीं हुआ इस मतभेद को समाप्त करने के लिए पोप पर परिषद को अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करनी थी। अतः अन्तिम समय में घोर वाद विवाद हुआ। इसलिए डॉ० फिगिस ने “विश्व के इतिहास में सबसे अधिक क्रान्तिकारी अधिकृत दस्तावेज कहकर पुकारा है।”

बेसिल की परिषद: councils of Basle (1431-49)- बेसिल के परिषद का आयोजन मार्टिन पंचम् पोपटिया ने तीसरी परिषद की बैठक बुलाई। 1431 में बेसिल के परिषद का आयोजन किया गया। पोप के सामने एक शर्त रखी गई कि अगर तीन माह में परिषद के सामने उपस्थित नहीं होंगे तो ईसाई संघ को चलाने के लिए अलग से व्यवस्था की जाएगी। अतः पोप उपस्थित हुये परन्तु उन्होंने परिषद की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। बेसिल की परिषद में उग्र कार्यवाही की गई परन्तु परिषद पोप की सत्ता को समाप्त करने में असफल रही। अन्त में इस सम्मेलन को तीन वर्ग में बाँटा

गया। एक वर्ग में राजसत्ता विद्वान रखे गये। दूसरे में विशप तथा कार्डिनल तथा तीसरे में पिलेट एवं एवट रखे गए। यदि दो वर्ग किसी बात को स्वीकार कर लेते तो वह परिषद का निर्णय माना जाता था। परन्तु ऐसा हो नहीं सका और पोप की निरंकुश सत्ता बरकरार रही और परिषद का अन्त हो गया।

9.4.3 परिषदीय आन्दोलन के असफलता के कारण

लगभग 50 वर्षों तक चलने वाले परिषदीय आन्दोलन के असफलता के प्रमुख कारण इस प्रकार थे।

- 1- पोप के निरंकुश सत्ता को समाप्त करना इस आन्दोलन का प्रथम लक्ष्य था। परन्तु इस आन्दोलन के नेता पोप की अपेक्षा कमजोर थे। जिससे धीरे-धीरे इस आन्दोलन का अस्तित्व समाप्त होने लगा।
- 2- परिषदीय आन्दोलन सैद्धान्तिक अधिक तथा व्यवहारिक कम था। जिससे साधारण जनता का सहयोग नहीं मिल पाया यह आन्दोलन इसलिए भी सफल नहीं हो सका।
- 3- बेसिल की परिषद ने चर्च की सत्ता को सम्भालने में अक्षम थी। फूट डालो शासन करो की नीति से पोप ने लाभ उठाया।
- 4- पोप की सत्ता को समाप्त न करना परिषदीय आन्दोलन के लिए जहर के समान था अतः वह पोप की सत्ता को समाप्त न कर सका तथा चर्च के धर्माधिकारी भी पोप को हटाना नहीं चाहते थे। जिससे परिषदीय आन्दोलन सफल नहीं हुआ।
- 5- प्रो० कुक ने कहा है कि “परिषदीय आन्दोलन के नेताओं ने अपनी हर बात नम्रतापूर्वक मनवाने की वजह से यह आन्दोलन रूढ़िवादी हो गया इसकी वजह से भी असफल हो गया।”
- 6- परिषदीय आन्दोलन के समर्थको ने इस आन्दोलन के बारे में आम जनता को परिचय नहीं दिया।
- 7- बेसिल परिषद के महान नेता निकोलस पोप से मिल गया। कई राज्यों के नेताओं ने भी पोप से सन्धि करना उचित समझा। लोगों ने बदले में पोप से कुछ रियासते भी प्राप्त की जिसकी वजह से यह आन्दोलन असफल रहा।
- 8- पोप की शक्ति मजबूत थी जबकि परिषदीय आन्दोलन यदा कदा उभर कर सामने आता था। इसलिए लोगों तक इस सिद्धान्त का न पहुँचना ही आन्दोलन का असफलता के कारण थी।
- 9- सभी यूरोपीय राष्ट्र अपनी अपनी समस्या के समाधान पर लगे थे। इस आन्दोलन को जो समय मिलना चाहिए था वह नहीं मिला।

9.4.4 परिषदीय आन्दोलन के विचारक

जान वाईक्लिफ: John Wycliff- इंग्लैण्ड के यार्कशायर जिले में उत्पन्न ज्ञान वाईक्लिफ (1330-1384) बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति का था। धार्मिक कार्यों को करते हुए जान वाईक्लिफ

का पोप के सिद्धान्तों से विश्वास उठता चला गया वह पोप के सिद्धान्तों को बहिष्कृत करना शुरू किया। जब वाइक्लिफ ने पोप का विरोध करना शुरू कर दिया तो वाइक्लिफ की सभी रचनाओं को आग में झोंक दिया गया। इस धक्के को वाइक्लिफ बर्दाश्त नहीं कर पाया। वाइक्लिफ सुधारवादी नेताओं के सिद्धान्तों का पोषक था। वह धार्मिक क्रान्ति का पोषक भी था। वाइक्लिफ का मानना था कि धर्म में विश्वास किया जाय तथा रूढ़िवादी परम्पराओं को समाप्त किया जाए। वाइक्लिफ ने अपनी राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में परिवर्तन लाना चाहा एवं राजनीति सिद्धान्त के क्षेत्र में अधिपत्य के सिद्धान्त का भी गणेश किया। वाइक्लिफ ने कहा की चर्च और पोप को ईश्वर की सत्ता मानना चाहिए। पोप सम्राट और चर्च के सभी अधिकारियों का नैतिक दायित्व बनता है कि ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हो। इस धरती पर कोई भी सत्ता अन्तिम नहीं माना जाता है। क्योंकि सत्ताओं का स्रोत तो मात्र ईश्वर है। वाइक्लिफ ने कहा की चर्च एक अध्यात्मिक प्रतिष्ठान है। अतः उसे बाहरी जगत के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चर्च तथा पोप के अधिकारियों को राजनीतिक सत्ता में किसी प्रकार की रुचि नहीं लेनी चाहिए। सम्राट की सत्ता भी सुख देने वाली होती है। अतः उसे ईश्वर की सत्ता माना जाना चाहिए। क्योंकि इस चराचर जगत का एक मात्र स्रोत ईश्वर है। अगर धर्म के अनुसार सम्राट के सत्ता का पालन किया जाय तो सम्राट की सत्ता सुख देने वाली होगी। क्योंकि सत्ता का प्रयोग मानव को सुख देने वाली होने के साथ साथ कल्याणकारी होती है। वाइक्लिफ ने कहा कि राजसत्ता धर्मसत्ता के किसी भी आचरण को सहन नहीं किया जायेगा, जो निरंकुश हो।

वाइक्लिफ ने सम्पत्ति के बारे में अपने विचार प्रकट किये। चर्च की सत्ता सार्वजनिक होती है। अतः उस पर पोप का कोई निजी स्वामित्व नहीं होना चाहिए।

जान हस:-John Huss- वाइक्लिफ के परम शिष्य जान हस 1370-1415 ने जो 1402 में प्राग विश्वविद्यालय में रैक्टर के पद पर आसीन हुआ। चर्च और पोप के गन्दे आचरण की कड़ी आलोचना की। जॉन हंस के विचारों पर सम्राट नाखुश था वह पोप जॉन तेइसवें द्वारा उसे धर्म बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन हस के ऊपर इन सब बातों का प्रभाव नहीं पड़ा। उसने पोप और चर्च के पादरियों के विरुद्ध आन्दोलन का आगाज किया। जान हस ने कहा की एक सच्चे चर्च की पहचान कर्तव्यनिष्ठ लोगों से है। जान हस ने वाइक्लिफ के विचारों का समर्थन किया। परन्तु उसने कहा कि पोप चर्च पर शासन अपने निजी स्वार्थ के लिए कर रहा है। हस ने कहा कि चर्च की सत्ता ऐसे व्यक्ति (पोप) के हाथ में होनी चाहिए, जो कर्तव्यनिष्ठ तथा जन कल्याणकारी हो। जान हस ने कहा सम्पत्ति विलासिता की जननी है। अतः इससे दूर रहना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पोप की निरंकुशता का विरोध किया गया है। तथा लोक कल्याणकारी राजसत्ता का समर्थन किया गया है।

जान गर्सन:-John Gurson- जान गर्सन मार्सीलियों के विचारों से प्रभावित था। उसने चर्च में पोप की सत्ता का विरोध किया। चर्च के सामान्य परिषद के सत्ता को अहमियत दी उसने अपना विचार

प्रकट किया की पोप चर्च की सत्ता के अधीन है। तथा पोप अगर धर्म के विरुद्ध जाता है तो चर्च उसे अपदस्त कर सकता है। उसने सामान्य परिषद का इसलिए समर्थन किया कि चर्च और पोप के मध्य जो मतभेद है, वह समाप्त हो जायेगा। मासीलियो के इस विचार से सहमत नहीं था कि चर्च की प्रभुता में समस्त व्यक्ति केन्द्रित है। उसने मासीलियो की भाँति चर्च में सभी ईसाइयों को शामिल नहीं किया। वह चर्च की अन्तिम शक्ति सामान्य परिषद में मानता था। अगर सम्राट भी राज्य के हित में नहीं है तो उसे भी अपदस्थ किया जा सकता है। लौकिक शासक किसी भी समय सामान्य परिषद के सत्ता को बुला सकता था। जान गर्सन भी ईश्वरीय नियमों को महत्त्व देता था। जान गर्सन परिषद का प्रमुख नेता था। उसने परवर्ती सुधारों के लिए एक नया रास्ता तैयार किया।

निकोलस ऑफ क्यूसा:-Nicholas of Cusa- निकोलस परिषदीय आन्दोलन का प्रमुख नेता था। वह अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए जाना जाता था। वह कई यूरोपीय देशों में पोप के सन्देश वाहक के रूप में कार्य कर चुका था, इसलिए उसे अच्छा अनुभव था। निकोलस की प्रसिद्ध ग्रन्थ डी कॉनकोर्डेंटिया कैथोलिका De Concordantia Catholica जिसमें उन्होंने पोप के अधिकार पर चर्च की सामान्य परिषदों की सर्वोच्चता के लिए समर्थन व्यक्त किया। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में एकता और सामान्यजस्य को महत्त्वपूर्ण माना। निकोलस ने कहा कि पोप चर्च की एकता का प्रतिनिधित्व करता है। चर्च के प्रति पोप की उपयोगिता प्रदर्शित की जाती है। पोप चर्च का एक सदस्य है। किन्तु कभी कभी पोप कर्तव्य पालन में असफल रहा। इतना सब कुछ होने के बावजूद आश्चर्य की बात यह है कि निकोलस आफ क्यूसा ने अन्त में पोप का समर्थन किया।

9.4.5 परिषदीय आन्दोलन का महत्त्व

परिषदीय आन्दोलन पोप की निरकुंशता का दमन करने के लिए गठित किया गया। परन्तु वह अपने इस कार्य में सफल नहीं रहा।

इस आन्दोलन में सुधारवाद का सूत्रपात किया गया। इस आन्दोलन से यह भी स्पष्ट किया गया कि बिना आम जनता के कल्याण किए बगैर कोई भी सत्ता सुरक्षित नहीं रह सकती चाहे वह राजसत्ता का अधिकारी हो या धर्मसत्ता का। इस आन्दोलन को जनता का अन्तिम स्रोत माना गया।

परिषदीय आन्दोलन पोप को अपने अधीन न कर सका परन्तु यह प्रमाणित कर दिया की चर्च सर्वोच्च है। और पोप उसके अधीन है। चर्च के लिए एक प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था की माँग की गई जिससे पोप की विजय हुई। प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था असफल रही। भविष्य के लिए पोप सावधान हो गया। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ पोप की विधायी शक्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गई। यह कार्य चर्च के शासन प्रबन्ध का हो गया। लोगों में राष्ट्रीयता की भावना बलवती हो गई।

परिषदीय आन्दोलन सफल नहीं रहा पन्तु उसके सानिध्य में धर्मसुधार आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। परिषदीय आन्दोलन धार्मिक कम राजनीतिक अधिक था। परिषदीय आन्दोलन के अन्त होने के साथ-साथ मध्यकाल का भी अन्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न

- 1- पीसा की परिषद कब बुलाई गई?
i. 1409 ii. 1408 iii. 1404 iv. 1407
- 2- जान वाइक्लिफ की कौन सी रचना है?
i. डी सिविली डोमिनियो ii. प्रिन्स iii. लेवियाथन iv. डिस्कोर्सेज
- 3- कान्सटेन्स की परिषद में कितने कार्डिनल उपस्थित थे?
(i) 40 (ii) 300 (iii) 29 (iv) 80
- 4- निकोलस के प्रसिद्ध पुस्तक का क्या नाम है?
(i) De Concordantia Catholica (ii) De Homine
(iii) De republing (iv) De Lawathon
- 5- जान गर्सन किस विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे?
(i) जाम्बिया (ii) जावा (iii) पेरिस (iv) इटली

9.5 सारांश:

परिषदीय आन्दोलन अपने सिद्धान्तों के व्यवहारिकता के कारण पूर्ण रूप से सफल हो सके। पोप और चर्च का भीषण पतन हो चुका था। पोप अपार सम्पत्ति का स्वामी था उसके ऐशो आराम तथा विलासिता पूर्ण जीवन ने समाज में क्रान्ति पैदा की। इस समस्या के समाधान के लिए विभिन्न परिषदों का गठन किया गया। पीसा की परिषद, कान्सटेन्स की परिषद, बेसिल की परिषद पोप के निरंकुश, सत्ता को नियंत्रण करने के लिए परिषदीय आन्दोलन अस्तित्व में आया। जान गर्सन, मार्सीलियो, विलियम आफ ओकम, दाँते, वाईक्लिफ आदि ने पोप और चर्च की अनैतिकता और आततायियों का निराकरण होना ही परिषदीय आन्दोलन का अस्तित्व में आना है। परिषदीय आन्दोलन में चर्च और पोप के लिए प्रभावशाली सत्ता निहित थी।

9.6 शब्दावली:

निरंकुशता-	जिस पर किसी का अंकुश नहीं
सार्वजनिक-	सभी के लिए
गौरव -	सम्मान, प्रतिष्ठा
विख्यात-	प्रसिद्ध

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. (i), 2.. (i), 3. (iii), 4. ,(i), 5. (iii)

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- रघुवीर सिंह, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2082.
- 2- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन- ओपी गावा
- 3- शर्मा, डॉ० प्रभुदत्त, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002.
- 4- डॉ० वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, ज्ञानदा प्रकाशन नई दिल्ली।

9.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

- 1- पाश्चात् विचारकों का इतिहास- प्रो० ए०वी०लाल
- 2- मध्यकालीन विश्व- रघुवीर सिंह

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न:

- 1 - परिषदीय आन्दोलन से आप क्या समझते हैं।
- 2- परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख विचारकों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
- 3- परिषदीय आन्दोलन के उत्पत्ति के कारण बताइए।
- 4- परिषदीय आन्दोलन में प्रमुख परिषदों का वर्णन कीजिए।

इकाई- 10 : पुनर्जागरण (Renaissance)

- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 उद्देश्य
- 10.3 पुनर्जागरण: आशय एवं परिभाषाएँ
- 10.4 पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि
 - 10.4.1 पुनर्जागरण की उत्पत्ति के कारण
 - 10.4.2 पुनर्जागरण के विकास के कारण
 - 10.4.3 पुनर्जागरण की विशेषताएँ एवं परिणाम
 - 10.4.4 पुनर्जागरण के प्रभाव
 - 10.4.5 पुनर्जागरण के महत्त्व
- 10.5 सारांश
- 10.6 शब्दावली
- 10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना:

पुनर्जागरण यूरोप के इतिहास में ही नहीं विश्व के इतिहास में युगान्तकारी घटना है। पुनर्जागरण ने यूरोप में ही नहीं पूरे रोमन साम्राज्य में आधुनिक युग का श्री गणेश किया। पुनर्जागरण ने मानवीय सभ्यता तथा प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पुनर्जागरण ने वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पुनर्जागरण से प्रकृति पर मानव विजय प्रारम्भ हुई। बौद्धिक स्वतन्त्रता से लेकर राजनीतिक समाज विचार व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकार की नारी शिक्षा की मानव जीवन को सुखी बनाने ज्ञान को निर्धन व्यक्ति को सुलभ करने की अवधारणाओं का विकास हुआ। इसने धार्मिक स्वतन्त्रता की स्थापना की और एक नवीन प्रबुद्ध समाज का निर्माण हुआ। पुनर्जागरण की वजह से राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई। पोप और चर्च के अधिकारियों के विलासितापूर्ण जीवन की निन्दा की। पवित्र तथा नैतिक पूर्ण जीवन की मांग की। पोप की सत्ता दुर्बल होने से राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई। लोगों को अपने देश की प्रगति में रूचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार राष्ट्रीय साहित्यों के निर्माण में राष्ट्रीय भावना दृढ़ हुई। पुनर्जागरण का मानव जीवन के सभी पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। शिक्षा का प्रचार प्रसार हुआ। कई विश्वविद्यालय तथा अकादमी स्थापित की गईं। इंग्लैण्ड तथा इटली के साथ-साथ रोमन साम्राज्यों में भी नवीन युग का उदय हुआ। इंग्लैण्ड में लौकिक साहित्यों के साथ-साथ लोगों ने धर्मशास्त्रों में भी रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया। चर्च और पोप की सत्ता में सुधार हुआ। ईसाई धर्म में नैतिक सत्ता का बोलबाला हुआ। सांस्कृतिक, धार्मिक तथा नैतिक पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ की आधुनिकता के लक्षण परिलक्षित होने लगे, तथा पुनर्जागरण के बाद आधुनिक युग प्रारम्भ हो गया।

10.2 उद्देश्य:

- 1- पुनर्जागरण का मध्यकाल में क्या प्रभाव पड़ा, जान सकेंगे।
- 2- पुनर्जागरण के कारण को जान सकेंगे।
- 3- पुनर्जागरण के दौरान कला साहित्य तथा वैज्ञानिक उन्नति को जान सकेंगे।
- 4- इंग्लैण्ड और इटली में पुनर्जागरण के विकास को जान सकेंगे।

10.3 पुनर्जागरण-आशय और परिभाषाएँ

पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ है पहले से प्रस्तुत वस्तु या व्यक्ति का पुनः जगना। मध्यकाल के लगभग 1000 वर्षों के समय में जो विचार जो चिन्तन प्रवाह जीवन शैली लोगों ने प्रस्तुत की थी, आधुनिक काल के उदय होने के साथ-साथ वे पुनः जागृत हो उठीं। जेम्स एडगर स्वेन James

Edgar Swain ने लिखा है, “पुनर्जागरण से ऐसे सामूहिक शब्द का बोध होता है जिसमें मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिक युग के प्रारम्भ से बौद्धिक परिवर्तन का समावेश हो” वही पर साहित्यिक दृष्टि से पुनर्जागरण का अर्थ है “नवीन ज्ञान” किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से यह एक प्रकार का आन्दोलन था, और मानव मस्तिक की एक अनोखी जिज्ञासापूर्ण स्थिति थी।

रिनेसा को समझने के लिए इटली के पांच राज्यों और दुनिया का सबसे सभ्य नगर कहा जाने वाला फ्लोरेंस तथा यूरोप को समझना परम आवश्यक है। पुनर्जागरण काल में आधुनिक युग के फलस्वरूप मध्यकालीन अन्धविश्वासपूर्ण विचारों के प्रति लोगों में रोष पैदा हुआ, और अधिकांशतः उन सभी बातों का बीजारोपण हुआ। जो आज हमें आधुनिक युग में दिखाई पड़ती है।

पुनर्जागरण की कोई ऐसी सीमा नहीं थी। जिससे मध्यकाल और आधुनिक काल का विभाजन किया जा सका। 14वीं शताब्दी से आरम्भ होकर 1600ई0 तक प्रचार प्रसार हो गया था। लोगों में महान बौद्धिक जागृति ने आलोचनात्मक और अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति पैदा की। लोग प्रचलित प्रथाओं और परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। लोगों में परिवर्तन की चाहत थी। वे तत्कालीन संस्थाओं को चुनौती देने लगे। धीरे-धीरे परिवर्तन के फलस्वरूप इतिहास के एक युग का अन्त होकर दूसरे युग का सूत्रपात हो गया।

फिशर Fisher महोदय के अनुसार, “सर्वप्रथम इटली के नगरों प्राचीन, यूनानी और रोमन कला, साहित्य, संस्कृति का पुनर्गठन मानववादी आन्दोलन के प्रारम्भ, धार्मिक क्षेत्र में प्राचीन यूनानी सभ्यता का समावेश, व्यक्तिवाद, नवीन रुचि, नया दृष्टिकोण वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचना, दर्शन और धर्मशास्त्र का नवीन स्वरूप आदि को सामूहिक रूप से पुनर्जागरण कहते हैं।”

पुनर्जागरण का युग महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का युग था, जिसमें बहुत कुछ मध्यकालीन था। कुछ स्पष्टतः आधुनिक तथा कुछ स्वयं में विशिष्ट था। पुनर्जागरण ने मध्य एवं आधुनिक युगों के बीच के स्थित स्थान को पाट दिया, फिर भी एक महान राजनीतिक, सामाजिक, भौतिक एवं बौद्धिक जागृति का सांस्कृतिक काल था।

इस प्रकार पुनर्जागरण के फलस्वरूप समस्त यूरोप के विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई। जनता का जीवन के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। सांसारिक सुखों ने भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। पुनर्जागरण ने मध्य युग के दोषों को समाप्त कर उसके स्थान पर व्यक्तिवाद भौतिकवाद स्वतन्त्रता की भावना उन्नत कर राजनीतिक राष्ट्रवाद को प्रतिस्थापित किया।

10.4 पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

पुनर्जागरण का आरम्भ कोई घटना नहीं थी। बल्कि इसके कई आकस्मिक पूर्वाचिन्ह पहले से विद्यमान थे। चौदहवीं शताब्दी से पहले भी समय-समय पर सामूहिक राजनीतिक उथल पुथल तथा तर्क वितर्क, क्रिया प्रतिक्रिया के उदाहरण मिलते हैं।

प्रथम: पहला पुनर्जागरण आन्दोलन कैरोलिंगियन (Carolingian Renaissance) सम्राट चार्ल्स प्रथम से सम्बन्धित था।

द्वितीय: दूसरा पुनर्जागरण का श्रेय बीजान्टिन आइकन को दिया जाता है। बहुत हद तक पुनर्जागरण का शुभारम्भ इसी चरण में माना जाता है। किन्तु उस समय चर्च का पादरी वर्ग इस आन्दोलन से इतना संशुभित हो गया कि इसे क्रूरता पूर्वक दबाने की पूरी कोशिश किया।

तृतीय: तीसरा पुनर्जागरण आन्दोलन सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय (1212-1250) से सम्बद्ध था, सम्राटों के संरक्षण में बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ। उस समय दाँते ने पुनर्जागरण में अहम भूमिका निभाई।

इटली में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

पुनर्जागरण का शुभारम्भ इटली से ही हुआ और धीरे-धीरे इस आन्दोलन का बहाव स्पेन, पुर्तगाल, फ्रान्स, इंग्लैण्ड और जर्मनी में फैल गया। वास्तविकता तो यह है कि उस समय इटली का वातावरण पुनर्जागरण के अनुकूल था। क्योंकि उस समय इटली कई भागों में विभाजित थी। 15वीं शताब्दी में इटली राजनीतिक दृष्टि से कमजोर थी। राजनीतिक एकता का अभाव था, और अनेक देशभक्त इटली की एकता की आकांक्षा करते थे। दान्ते Dante तथा पेट्राक Petrarch जैसे कई साहित्यकार और राजनीतिज्ञों ने एक सुसम्बद्ध राज्य प्रदान करने में अहम भूमिका निभाई। लेकिन फिर भी इटली राजनीतिक दृष्टि से एक ईकाई न बन सका।

इटली में पुनर्जागरण के दो पहलू थे- **प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन कला का विकास**, पुनर्जागरण के साहित्यिक पहलू को “मानवतावाद” के नाम से जाना जाता है। मानवतावाद का प्रबल समर्थक फ्राँसेस्को पेट्राँक francesco petrarch को माना जाता है। फ्राँसेस्को (1304-1374) मध्यकाल का वह प्रथम विद्वान था। जिसने राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य को समझा। मध्यकाल में जो पण्डित पंथ के गढ़ थे। पेट्राँक उनके खिलाफ थे। तथा वे लोग अरस्तू के विचारों का समर्थन करते थे। उसे पेट्राँक अज्ञानी मानते थे। तथा वे कहते थे कि अरस्तू भी मनुष्य थे और उनसे भी गलती हो सकती है। पेट्राँक ने मध्यकाल और चर्च पर गहरा तंज कसा। 15वीं शताब्दी के इटालियन विद्वानों ने नवीन ज्ञान और वैज्ञानिक विकास तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति को बढ़ावा देने के

लिए पूरा प्रयास किया। इसके लिए अरियेस्टों का नाम प्रमुख है। इसी टासों और शेरब्योरो के नाम भी प्रसिद्ध हुए। इसीलिए इटली को पुनर्जागरण आन्दोलन का पथ प्रदर्शक माना जाता है।

यूरोप के अन्य भागों में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

16 वीं शताब्दी के अन्त तक इटली पुनर्जागरण के विचारधारा को खो चुकी थी। परन्तु तब तक यूरोप में मानवतावाद कदम रख चुका था, तथा इटली का आटपस पर्वत पार कर जर्मनी, फ्रांस एवं इंग्लैण्ड में प्रवेश कर चुका था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गणितज्ञ, राजनीतिज्ञ धर्मशास्त्री के रूप में कार्डिनल निकोलस बहुत प्रसिद्ध हुआ। जर्मनी में भी सभी संस्थाएँ चारों तरफ पूरे नगर में विखरी पड़ी थी। इसमें प्रसिद्ध विद्वान विफेलिंग टिथेमिथस रिजियोमोन्टेनस एग्रिकोला वेसेल ने जर्मनी के वियना नामक स्थान पर मानववाद का प्रचार किया। ज्ञान के क्षेत्र में आसक्ति तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास हुआ।

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि:

इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण का प्रारम्भ एडवर्ड चतुर्थ के शासनकाल में आरम्भ हो गया था, और महारानी एलिजाबेथ के शासनकाल में अपने चरम पर था। इंग्लैण्ड में पुनर्जागरण के केन्द्र आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालय थे। वही पर इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान टामस मूर ने पुनर्जागरण का नेतृत्व किया। टामस ने अपनी प्रसिद्ध कृति यूटोपिया को देकर पुनर्जागरण का डंका बजा दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति यूटोपिया में ऐसे विश्व की कल्पना की जो समस्त बुराइयों से मुक्त हो।

इंग्लैण्ड के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार फ्रान्सिस बेकन ने अपनी प्रसिद्ध कृति दि एडवान्समेण्ट आफ लर्निंग में विज्ञान के अध्ययन को अनिवार्य माना। इसी समय का महान साहित्यकार विलियम शेक्सपियर है। उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग का स्वभाविक चित्रण किया। उसी समय आइजक न्यूटन तथा ट्यूडर राजाओं ने पुनर्जागरण को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया।

10.4.1 पुनर्जागरण की उत्पत्ति के कारण:

पुनर्जागरण कोई अचानक में घटने वाली घटना नहीं थी। 9 वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर 15 वीं शताब्दी तक सामाजिक राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथ्य उपस्थित हो गये। उनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं।

कुस्तुन्तुनिया का पतन:

पूर्वी रोम साम्राज्य में कुस्तुन्तुनिया का पतन पुनर्जागरण में अहम भूमिका निभाता है। अपनी संस्कृति को 1453 ई0 में तुर्कों से बचाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में रोम के लोग इटली पलायन करने लगे।

वे अपनी संस्कृति साहित्य को बनाये रखने के लिए सभी धार्मिक और राजनीतिक पुस्तकें लेकर कुछ लोग फ्लोरेन्स चले गये। और आपस में ही विद्वता की तलाश करने लगे और सुधार की चाहत से लोगों ने बौद्धिक आन्दोलन छेड़ दिया। अन्धविश्वास को समाप्त कर विवेकवाद का वर्चस्व स्थापित हो गया। मानववाद को बढ़ावा मिला।

कांसटैंटिनोपल का पतन: The fall of Constantinople

1453 में कांसटैंटिनोपल का पतन भी मध्यकाल में व्यापक परिवर्तन का कारण बना। कांसटैंटिनोपल के पतन से व्यापारिक समस्याएँ गम्भीर हो गईं तथा व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध कर दिए जाने के कारण एशिया पहुँचने के लिए नये मार्ग की खोज परमआवश्यक हो गया। 'अन्ततः अमेरिका की खोज हुई तथा एशिया के साथ सम्पर्क सूत्र बढ़ा, नवजागरण का सृजन हुआ।'

पश्चिमी यूनानी दर्शन से परिचय:

मध्य युग के समय में स्पेन यूरोप अफ्रीका आदि में इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ या अरब के लोग प्राचीन विद्या के प्रेमी होने के कारण वे रोम और यूनान के ग्रन्थों का सम्मान किया करते थे। उसी समय अरस्तू प्लेटो जैसे दार्शनिकों की कृतियों का लोगों ने अध्ययन करना शुरू किया। कई विद्वान जो यूरोप के रहने वाले थे। उन्होंने भी बड़े पैमाने पर अध्ययन किया। इसके परिणाम स्वरूप धर्मनिरपेक्षता तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का लोगों में विकास हुआ, जो पुनर्जागरण की उत्पत्ति में प्रमुख माना जाता है।

धर्मोत्तर पोषको का योगदान:

इस्लामी धर्म के विरुद्ध लोगों ने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। तथा धार्मिक उन्माद में फ्लोरेन्स में ईसाई धर्म की राजनीतिक सत्ता स्थापित हो गया। सभी चर्च के पोप और पादरी धर्मोत्तर संस्कृति के पोषक थे। चर्च के पादरियों तथा धर्माधिकारियों ने पुनर्जागरण में अहम् भूमिका निभाई।

इटली के समृद्ध विरासत का योगदान:

पुनर्जागरण में इटली की समृद्ध विरासत की आड़ में आपसी अन्तर्द्वन्द्व कलह, छुटपुट संघर्ष से निजात पाने के लिए कुछ प्रेरक तत्वों ने सभी विडम्बनाओं को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। सभी देशों से इटली के लोग चर्च की बुराइयों से अधिक अच्छी तरह अवगत थे। इटली में धर्म निरपेक्ष तत्त्व अधिक बलशाली थे। इटली में उत्तर मध्यकाल से ही साहित्यिक प्रगति के लक्षण दिखने लगे थे। समृद्ध की यह पृष्ठभूमि ने पुनर्जागरण का सूत्रपात किया।

उत्तर मध्ययुग प्रवृत्तियों का प्रभाव:

13 वीं शताब्दी के बाद सामंतवादी युग के अधिकांश लक्षण इस प्रकार हैं। सामंतवादी युग के अधिकांश प्रमुख संस्थाएँ पतन के गर्त में डूब गईं। पोप की सार्वजनिक सत्ता व्यापार एवं उद्योग निर्बल होती जा रही थी। चर्च का युग समाप्त हो रहा था। मध्यकालीन दर्शन के प्रति लोगों में रोष की भावना थी, और वही पर तेरहवीं शताब्दी में मार्कोपोलो ने चीन तक की यात्रा की। इटली, जेनेवा, पीसा, बेनिस आदि नगर राज्यों के व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। लोगों का धर्मनिर्पेक्ष के प्रति गहरा लगाव पैदा हो गया, तथा पुनर्जागरण के अभ्युदय में भूमिका निभाई।

कुछ अन्य कारण:

पुनर्जागरण के अन्य प्रमुख कारण भी हैं। जैसे विश्वविद्यालयों के स्थापना से ज्ञान में वृद्धि हुई। रोमन काल के अध्ययन का पुनर्चलन लोगों में वैज्ञानिक अविष्कार की भावना पैदा हुई। यथार्थवाद के विचार पैदा हुए। तमाम अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का हरास होने लगा। पोपशाही का प्रचार प्रसार कम होना इटालियन नगरों का भूमध्यसागरीय व्यापार पर एकाधिकार हो गया। छापे खाने का भी अविष्कार हो गया था। कुछ न कुछ इसका भी प्रभाव पड़ा था। रोमन आदर्शों का अनुसरण होने लगा। नवीन विकास का प्रभाव इन सभी ने सम्मिलित होकर पुनर्जागरण के उदय में अहम भूमिका निभाई।

10.4.2 पुनर्जागरण के विकास के कारण

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अतिरिक्त पुनर्जागरण के विकास में निम्नलिखित प्रमुख कारणों का योगदान रहा-

सामन्तवाद:- पुनर्जागरण का विकास सामन्तवाद के फलस्वरूप हुआ। जैसे-जैसे सामन्तवाद का विकास हुआ समाज में सामन्तशाही विचारों के प्रति विरोध पनपने लगा। सामन्तवाद यूरोपीय जीवन के एक प्रमुख विद्या के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। आर्थिक आधार पर लोगों का शोषण होता था। अतः मध्यकालीन संस्कृति में सामन्तवाद के विनाश के साथ-साथ पुनर्जागरण का विकास हुआ।

चर्च:- पुनर्जागरण के विकास का दूसरा आधार चर्च था। ग्रेगरी महान के समय चर्च के पद और प्रतिष्ठा के लिए आपसी संघर्ष जारी था। उस समय हेनरी ने चर्च की सत्ता को मजबूत करने के लिए विद्वानों और वकीलों की आवश्यकता को अनुभव किया तथा विद्वानों को रोम जाने के लिए प्रोत्साहित किया और वही पर यूरोप में अरबी विज्ञान का प्रसार प्रचार हो रहा था, और पहले से यूरोपीय वैज्ञानिक ज्ञान के मूर्त रूप थे। आक्सफोर्ड पेरिस और बोलोना में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और एक आन्दोलन चल पड़ा जिसे स्कौलेस्टिसिज्म scholasticism अर्थात् पंडितपंथ कहा जाता था। इससे विद्याध्ययन और वाद विवाद को बढ़ावा मिला। तेरहवीं शताब्दी में अरस्तू के दार्शनिक विचारों का विरोध होने लगा। उसी समय मानवतावाद का प्रतिपादन हुआ। पत्रांक, फैंसिस्को आदि विद्वानों की लेखनी से समाज में इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों में चेतना जागृत हो गई।

लोगों की चर्च और उनके पादरियों से विश्वास कम होने लगा पुनर्जागरण के विकास में चर्च की सत्ता ने अहम किरदार निभाया।

विद्वानों की भूमिका:- अनेक साहित्यकारों और विद्वानों ने अपनी प्रखर लेखनी के माध्यम से पुनर्जागरण का प्रचार प्रसार किया। 13 वीं शताब्दी में महान प्रख्यात विद्वान वेकन ने तर्क और प्रयोग पर इतना बल दिया की विज्ञान की उन्नति अपने चरम पर पहुँच गई। पुनर्जागरण के विकास को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने में विद्वानों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

प्राचीन साहित्य:- प्राचीन साहित्य के अध्ययन में रोम और यूनान की संस्कृति के प्रति लोगों को गहरा लगाव था। लोगों में नए विचार पद्धति तथा नए विचारों का सृजन हुआ। जिज्ञासा की प्रवृत्ति पैदा होने लगी। मस्तिष्क में उदारता का संचार हुआ। विद्वानों ने संस्कृति को भी तर्क की तराजू पर तोलने लगे।

धर्मयुद्ध:- धर्मयुद्ध से तात्पर्य है कि उस समय कुछ स्थानों पर इस्लाम का कब्जा हो गया था। ईसाइयों और इस्लाम धर्म के मध्य संघर्ष प्रारम्भ था। लेकिन इस्लाम धर्म के विजय अभियान को रोकना न जा सका। ऐसी स्थिति में दो धर्म के विचारों का मेल हुआ, और नवीन बातों का उदय हुआ, और वे लोग एक दूसरे देश में अपने अपने अनुभव की चर्चा करने लगे। इसके फलस्वरूप यूरोप के निवासियों में नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उनका सुप्त शौर्य जाग उठा और प्रगति की तरफ आगे बढ़ने लगे। जिससे पुनर्जागरण का विकास हुआ।

वैज्ञानिक अविष्कार:- वैज्ञानिक गवेषणाओं के फलस्वरूप यूरोप में पुनर्जागरण की लहर तेज हो गई थी। कागज मुद्रा और समुद्रों के मार्गदर्शन ने पुनर्जागरण के विकास में आग में घी का काम किया।

10.4.3 पुनर्जागरण की विशेषताएँ एवं परिणाम:

स्वतन्त्र विचार की प्रतिष्ठा:- पुनर्जागरण की पहली विशेषता स्वतन्त्र विचार की प्रतिष्ठा को स्थापित करना मध्यकाल के घोर विडम्बनाओं तथा अन्धविश्वासों को समाप्त कर चर्च की परम्पराओं को समाप्त कर स्वतन्त्र चिन्तन की एक नई आधारशिला रखी गई।

मानववाद की उत्पत्ति:- मानववाद शब्द की उत्पत्ति प्रसिद्ध इतिहासकार हेज ने लिखा है। नवजागरण की प्रस्तुती ही मानववाद द्वारा हुई। उस समय विद्वान पठन-पाठन करने लगे। आदर्श जीवन अपनाने लगे। मध्ययुगीन व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाई और विज्ञान सौन्दर्यशास्त्र तथा भूगोल जैसे विषयों को अधिक महत्व दिया। मस्जिद और चर्च की क्रियाएँ हास्यास्पद हो गई थी। नवीन आदर्शों का सृजन किया गया।

वैज्ञानिक विकास और अन्वेषण:- मध्यकाल के वैज्ञानिक यह मानते थे कि पृथ्वी सभी ग्रहों का केन्द्र है। तथा पृथ्वी सभी ग्रहों की परिकल्पना करता है। लेकिन इस विचार का विरोध किया गया तथा बताया गया कि पृथ्वी स्वयं एक ग्रह है और सभी ग्रहों का केन्द्र पृथ्वी नहीं बल्कि सूर्य है। पृथ्वी भी अन्य ग्रहों के समान सूर्य की परिक्रमा करती है। इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में विकास हुआ।

भौतिकवाद का विकास:- मध्यकाल के समय में मनुष्य का जीवन सारहीन था। मनुष्य को सिखाया जाता था कि सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए। चर्च के सभी आदेशों का पालन करना चाहिए। पुनर्जागरण के समय में यह विचारधारा समाप्त हो गई। और मानव जीवन को सुविधामय बनाने के लिए यह महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

धर्मनिर्पेक्षता का प्रचार प्रसार हुआ:- मध्यकाल में स्वतन्त्र चिन्तन को प्रेरित करने वाले विषय इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि पढ़ाए जाते थे। यूरोप के भी कई विश्वविद्यालयों में ऐसे ही कई विषयों का अध्ययन कराया जाने लगा। धर्मोत्तर शिक्षा का द्रुतगति से विकास हुआ।

कला में आदर्श का निहित होना:- मध्ययुग के कला का आधार ईसाई धर्म था। परन्तु पुनर्जागरण काल में कला के क्षेत्र में प्राचीन यूनान और रोमन आदर्शों की स्थापना करना था। पुनर्जागरण काल में लोगों ने उस कला को अपनाया जो प्राचीन होने के साथ साथ संयत और सरल भी थे। गोथिक शिखर के स्थान पर रोमन गुम्बद का प्रयोग होने लगा। पुनर्जागरण काल स्थापत्य कला का उदाहरण रोम में निर्मित सेण्टपीटर का गिरजाघर है। इसी प्रकार रोम और यूनान के आदर्शों का अनुकरण किया गया।

साहित्य का विकास:- पुनर्जागरण काल में राष्ट्रीय भाषाओं को महत्त्व दिया गया। लोग लेटिन और यूनानी भाषा में साहित्यिक रचनाओं का निर्माण करने लगे उस समय विद्वानों ने अपनी रचनाओं में सांसारिक भावनाओं का चित्रण किया। उसी समय इटालियन भाषा में दान्ते ने अपनी पहली रचना दि डिवाइन कामेडी की रचना की थी। पुनर्जागरण काल में राजनीति और विज्ञान विषय पर कई ग्रन्थ लिखे गये।

पुनर्जागरण बहुत सी सहायक नदियों का संगम है। पुनर्जागरण के विकास में इटालियन योगदान शुरू से लेकर अन्त तक काफी प्रभावशाली था। इटली एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ सशक्त सामुदायिक जीवन युद्ध और आक्रमणों के झंझावत को क्षीण किया। 13 वीं शताब्दी में पोप के द्वारा विश्व शक्ति के रूप जर्मन का विनाश और फ्रांसीसी राजतन्त्र द्वारा पोप की अधीनता से इटली के स्वतन्त्र राज्यों को आत्मविश्वास और समुन्नत आत्मविश्वास का नूतन अवसर प्राप्त हुआ। लिनार्गे बूनी ने प्लेटो के संवादों को लैटिन भाषा में अनुवाद किया। ईसाई सिद्धान्त और रोमन कला का मिश्रण हो गया। पेट्राक को पुनर्जागरण के जनक होने का गौरव प्राप्त हुआ। पुनर्जागरण के कारण ही राष्ट्रीय एकता का

प्रयास हुआ। सांस्कृतिक और बौद्धिकता का उत्कर्ष हुआ। कला साहित्य और राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति हुई। नगर राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया, तथा नवीन राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ।

10.4.4 पुनर्जागरण के प्रभाव:

राजनीतिक जीवन पर प्रभाव:- पुनर्जागरण के पहले यूरोपियन समाज का राजनीतिक जीवन पूर्णतः सामंती था। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती गईं राजा भी सामंतों के दलबन्दी में घिरता गया। राजा सामंतों के चतुरता पूर्ण व्यवहार से उठकर सामंतशाही को समाप्त करना चाहता था। धीरे धीरे मध्यमवर्ग का प्रभाव बढ़ा तथा राजा भी अपने वर्चस्व को बढ़ाया। अतः राजतन्त्र के विकास के संकेत दिखने लगे। हेनरी चतुर्थ तथा इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम और फ्रान्स में जार्ज प्रथम तथा जार्ज हेनरी चतुर्थ द्वारा इंग्लैण्ड में और एलिजाबेथ के शासन काल में राष्ट्रीयता के आधार केन्द्रीय शासन स्थापित हुआ। यूरोप में संगठित होती ईकाईयों का जन्म हुआ। यूरोप में राजनीतिक सत्ता का हास हो गया था। लेकिन राजा और मध्य वर्ग के मध्य सम्बन्ध में निकटता आने लगा और सामंतवर्ण अकेला पड़ गया। जिससे एक निर्णायक निर्णय सामने आया, और नई राजनीतिक व्यवस्था का उदय हुआ। व्यक्ति और राज्य की अस्मिता का स्पष्टीकरण हो गया तथा एक नए आधुनिक राज्य की स्थापना हुई और अन्ततः पुनर्जागरण उसका पोषक बना।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव:- पुनर्जागरण के पहले समाज में सामंतों का महत्त्व था। राजा सामन्त और चर्च के पादरी के अलावा समाज में किसी का महत्त्व नहीं था। समाज का मध्य वर्ग नगरो में रहता था। धन का अर्जन मुख्य काम था और नगरो में रहने वाले लोग चर्च का विरोध करने लगे, जिससे व्यक्ति का महत्त्व बढ़ने लगा। समाज में विडम्बनाओं से मुक्ति की चाहत थी। समाज में तनाव के लक्षण दिखने लगे। उस समय समाज में जो लोग चर्च से जुड़े थे वे अंधविश्वास और अंध परम्पराओं के कारण लोग अपने को भाग्यवादी मानते थे। पादरी अपने आप को सर्वोसर्वा समझते थे। इस अन्तर्द्वन्द्व कलह से उबरने के लिए सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों में मौलिक परिवर्तन होने लगा। आपसी सन्तुलन समाप्त हो गया। तनाव में वृद्धि हो गई, और आधुनिक समाज की संरचना का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

धार्मिक जीवन पर प्रभाव:- पुनर्जागरण का धार्मिक प्रभाव धर्म सुधार आन्दोलन में बदल गया था। चर्च की सत्ता का एकाधिकार समाप्त होने लगा। विवेक और तर्क के आधार पर मान्यताएँ अपनी ही कसौटी पर कसा जाने लगा। धार्मिक उन्माद पैदा हो गया। चर्च के पादरी और कैथोलिक धर्म के पण्डित पंथी आपस में ही अलग होने लगे। मध्यकाल में धर्म की न तो तो कोई व्याख्या की गई न तो कोई परिवर्तन किया गया। 13 वीं शताब्दी में व्यक्तिवाद की स्थापना की गई। शनैः शनैः धर्म का स्वरूप बदलने लगा और पुनर्जागरण अपने चरम पर था।

आर्थिक प्रभाव:- उस समय आर्थिक जीवन अपेक्षाकृत सरल तथा व्यवस्थित था। उस समय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। कामगार मजदूरों का संगठन बहुत कमजोर था। 13वीं शताब्दी के फलस्वरूप व्यापार और व्यवसाय में जटिलताएँ बढ़ने लगी। आर्थिक जीवन में उत्पादन और वितरण के स्वरूप बदलने लगे। 15 वीं शताब्दी तक लोग नगरों की तरफ आकर्षित हुए एवं बैंको का जन्म होने लगा। व्यापार और व्यवसाय में भी नियम और कानून बनने लगे। राजनीति और सामान्य जीवन एक साथ सम्बद्ध हो गया। इसी तरह पुनर्जागरण की छाप स्पष्ट दिखाई देने लगी।

सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव:- पुनर्जागरण के दौरान प्राचीन रोम तथा यूनान की संस्कृति को लोग अपनाने लगे। हूणों के आक्रमण से सभ्यता और संस्कृति रसातल में चला गया था। वह पुनर्जागरण के समय नैतिक दर्शन और मानवीय विषयों पर गहन विचार विमर्श हुआ। पुनर्जागरण का इतना प्रभाव पड़ा कि संस्कृति को लोग अपनाने लगे, और मध्यकाल के गन्दी संस्कृति को तिलांजलि देकर लोग नवीन संस्कृति के तरफ अग्रसर थे।

10.4.5 पुनर्जागरण का महत्त्व:-

पुनर्जागरण के महत्त्व का यदि विश्लेषण करे तो यह कहा जा सकता है कि प्राचीन परम्पराओं पर आधारित एक ऐसा नवीन प्रयोग हुआ और ऐसा सामन्जस्य देखने को मिला। जो नितान्त मौलिक दिशाएँ भी खोजी जा चुकी थी। यूनान की गरिमा तथा संस्कृति को विद्वानों ने सजोकर रखा। धर्म की चुभन से दूर हटकर नई संस्कृति और सभ्यता का पुनर्निर्माण हुआ। भौगोलिक अन्वेषणों में नई दुनिया अमेरिका की खोज हुई। मनुष्य ने अपने शक्तियों के मध्य वैज्ञानिक विकास पर जोर दिया। विवेक और विज्ञान से युक्त नवीन जीवन दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की। सभी छल, द्वेष, पाखण्ड से दूर रहकर अन्धविश्वासों की तिलांजलि देकर लोग विकास की तरफ अग्रसर होना चाहते थे। पुनर्जागरण के उदय से उत्कर्ष और समृद्धि की तरफ आगे बढ़ने लगे। सभी धर्मों का समान आदर होने लगा। पुनर्जागरण से वैज्ञानिक सोच तथा आधुनिक समाज राष्ट्र राज्य का विकास हुआ। मानववाद तथा भाईचारे की भावना का विकास हुआ। पुनर्जागरण से मध्यकाल की पुरातन व्यवस्था का अन्त हो गया।

अभ्यास प्रश्न

- 1- सर्वप्रथम 1300 ई0 में पुनर्जागरण की झलक निम्न देश में दिखाई पड़ी।
(अ) फ्रान्स (ब) इंग्लैण्ड (स) इटली (द) स्पेन
- 2- पुनर्जागरण युग का इटली का पहला असाधारण व महान साहित्यकार था
(अ) पैटार्क (ब) माइकल एंजिलो (स) स्बैले (द) हार्वे
- 3- पुनर्जागरण काल में इंग्लैण्ड ने विश्व को अमर नाटककार दिया-
(अ) सेक्सपियर (ब) टॉमस मूर (स) हार्वे (द) इरास्मस

- 4- पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ होता है।
 (अ) फिर से जागरण या पूनर्जन्म (ब) वैज्ञानिक प्रगति
 (स) साहित्यिक प्रगति (द) शैक्षणिक प्रगति
- 5- पुनर्जागरण काल की वैज्ञानिक प्रगति में योगदान दिया-
 (अ) कापरनिकस (ब) हार्वे (स) केपलर (द) उपरोक्त सभी

10.5 सारांश

पुनर्जागरण के फलस्वरूप समस्त यूरोप में विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई। जनता को अपने जीवन के प्रति मोह पैदा हुआ, आम लोग सांसारिक सुख में अपना सुख देखने लगे। इस प्रकार सुखों को प्राप्त करने के लिए अंध विश्वास, आडम्बर और प्रथाओं को समाप्त किया जाने लगा। व्यक्तिवाद और भौतिकवाद को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रवाद की भावना प्रतिस्थापित किया गया। पुनर्जागरण के अन्तर्गत अन्वेषण का विकास हुआ। विचारधारा एवं कार्य में भी स्वतंत्रता का विकास हुआ। अन्धविश्वासों एवं परम्पराओं पर लोग तर्क की कसौटी पर कसने लगे, बिना प्रश्न किये लोग इसे मानने को तैयार नहीं थे। मानव जीवन सुखमय बनाने के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं को महत्व देने लगे, पुनर्जागरण काल में सभी विद्वानों ने मानववादी दृष्टिकोण को अपनाया था एवं धर्मोत्तर सत्ता में विश्वास करते थे। धर्म में व्याप्त बुराईयों के विरोधी थे। मानव स्वतंत्रता, राष्ट्रीय निष्ठा पर बल दिया जाने लगा।

10.6 शब्दावली

पुनर्जागरण	-	नवीन व्यवस्था का उदय
तिलांजलि	-	त्याग
देवत्व	-	देव
प्राचीन	-	पुरानी
सर्वोत्कृष्ट	-	सभी में उत्तम

10.7 अभ्यास प्रश्न के उत्तर:

1. (स) 2. (द), 3. (अ), 4. (अ), 5. (द)

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- सिंह, रघुवीर, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2012.

-
- 2- वर्मा, एस0आर0, मध्य कालीन विश्व का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2003.
 - 3- शर्मा, प्रभुदत्त, पाश्चात् राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002
-

10.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

- 1- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक- ओ0पी0 गावा
 - 2- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-प्रो0ए0वी0 लाल
-

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- इटली में पुनर्जागरण पर निबन्ध लिखिये।
- 2- पुनर्जागरण के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
- 3- पुनर्जागरण से आप क्या समझते हैं? पुनर्जागरण का महत्त्व बताइए।

इकाई-11 : धर्म सुधार और प्रतिवादात्मक धर्म सुधार

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 धर्म सुधार आन्दोलन
 - 11.3.1 प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन:
 - 11.3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कारण
 - 11.3.3 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के व्याख्या
 - 11.3.4 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की संस्थाएँ
 - 11.3.5 धर्म सुधार आन्दोलन के अग्रणी विचारक
 - 11.3.6 धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व
 - 11.3.7 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कई देशों में प्रचार प्रसार
 - 11.3.8 यूरोप में प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम
 - 11.3.9 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम एवं महत्त्व
- 11.4 सारांश
- 11.5 शब्दावली
- 11.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.9 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

16वीं शताब्दी तक कोई ऐसी बात नहीं थी जिससे ज्ञात हो की चर्च में विघटन होने वाला था। मध्य युग में यूरोप के बर्बर जातियों के आक्रमण और सुरक्षा की दृष्टि से धार्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए रोमन कैथोलिक चर्च की स्थापना हुई। इस कैथोलिक चर्च में सुधार करना ही धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

प्रतिवादात्मक सुधार आन्दोलन कैथोलिक चर्च के दोषों के निराकरण के उद्देश्य से हुआ था। कैथोलिक धर्म में सुधार के साथ-साथ प्रोटेस्टेण्ट धर्म की स्थापना हुई। विभिन्न सम्प्रदाय के लोग इस धर्म को मानने लगे। यूरोप का उत्तरी भाग इस विभिन्न सम्प्रदायों का अनुयायी था। प्रोटेस्टेण्ट धर्म का प्रभाव कैथोलिक चर्च तथा धर्म को मानने वाले लोगों पर भी पड़ा। लोग चर्च और पोप में सुधार के इच्छुक थे। कैथोलिक धर्म के अन्दर कलह पोप की विलासिता पूर्ण जीवन चर्च में पादरी का आर्थिक भ्रष्टाचार सभी धार्मिक संस्थाओं के प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए पोप चर्च में सुधार के लिए जो आन्दोलन अस्तित्व में आया उसे प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन counter-reformation movement कहा गया। पोप की निरकुंश सत्ता पर नियन्त्रण के लिए प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का नेतृत्व पोप पाल तृतीय ने किया था। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार में कहा गया कि चर्च के सर्वोच्च सत्ता पर वही व्यक्ति बैठ सकता है जो पवित्र और त्यागमयी जीवन जीने के लिए प्रतिबद्ध हो। उसका उद्देश्य मात्र चर्च की प्रभुता अखण्डता में एकता बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध है।

11.2 उद्देश्य

- धर्म सुधार आन्दोलन के बारे में जान सकेंगे।
- धर्म सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता और उनके विचारों को जान सकेंगे।
- यूरोप में प्रतिसुधार आन्दोलन को जान सकेंगे।
- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम और महत्त्व को जान सकेंगे।
- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन का इंग्लैण्ड में क्या प्रभाव पड़ा आप जान सकेंगे।

11.3 धर्म सुधार आन्दोलन

पुनर्जागरण आन्दोलन के पश्चात राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को नवीन स्वरूप देने का श्रेय धर्म-सुधार आन्दोलन को है। इस महान् आन्दोलन ने शक्तिशाली रोमन चर्च में परिवर्तन लाने और इस सिद्धान्त मतानुसार समस्त यूरोप एक ईसाई समाज है जिसका सर्वोच्च प्रधान पोप है। पोप को नष्ट करने का महान् कार्य किया। यद्यपि 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों में नवीन शक्तियों और विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा था किन्तु महान् धर्म-संस्था रोमन चर्च अभी तक इन सब परिवर्तनों से अप्रभावित था। पोप की निरंकुशता, आडम्बर प्रियता और उसके अनाचारों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया था। चर्च का प्रभाव-क्षेत्र अब भी अत्यन्त व्यापक था। जब तक रोमन चर्च मध्यकालीन बना हुआ था तब तक यूरोप का आधुनिकीकरण करना दुष्कर था। यद्यपि सुधारवादी आन्दोलन ने इस कार्य की पूर्ति की दिशा में निर्णायक भूमिका अदा की, तथापि यह मध्यकालीन विचारों और आधुनिकता का सम्मिश्रण था। यह आन्दोलन मैकियावली से बहुत पीछे था। मैकियावली ने धर्म को राजनीति से बहिष्कृत करने का भरसक प्रयत्न किया था जबकि आन्दोलन के मूल प्रवर्तक मार्टिन लूथर एवं कॉल्विन ने धर्म तथा राजनीति को घनिष्ठ सम्बन्धों में जोड़कर पुनः मध्यकालीन विचार को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। धर्म-सुधार आन्दोलन किसी एक विषय तक सीमित नहीं था। वह ऐसा आन्दोलन था जिसने यूरोप की सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया। प्रश्न उठता है कि यह आन्दोलन क्रान्ति था अथवा प्रक्रिया? एल्टन के अनुसार धर्म के क्षेत्रों में ये क्रान्ति थी, किन्तु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रक्रिया की निरन्तरता। कोहलर के अनुसार, यह धर्म के क्षेत्र में भी एक प्रक्रिया ही थी। यदि ध्यान से देखा जाए तो दोनों ही अपने अपने दृष्टिकोण में सही प्रतीत होते हैं।

11.3.1 प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन:

धर्म सुधार आन्दोलन में निहित समस्याओं के समाधान के लिए प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन का उदय हुआ। इस आन्दोलन की स्थापना के फलस्वरूप बहुसंख्यक लोग कैथोलिक चर्च को त्याग कर प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की तरफ आकर्षित हुए। प्रति धर्म सुधार के भी कई सम्प्रदाय थे। लोग विभिन्न सम्प्रदायों में सम्मिलित थे। यूरोप का उत्तरी भाग कई सम्प्रदायों का अनुयायी था। यूरोप का दक्षिणी भाग अभी भी कैथोलिक चर्च का पोषक था। यूरोप के आस पास स्पेन पुर्तगाल इटली आस्ट्रिया, पोलैण्ड पूर्ण रूप से कैथोलिक थे। फ्रान्स में भी अधिक से अधिक संख्या में भी लोग कैथोलिक धर्म को मानने वाले थे। जितने भी कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोग थे वे चर्च में सुधार चाहते थे। 16 वीं शताब्दी में कैथोलिक चर्च को सुधारने के लिए कई सम्मेलनों का आयोजन किया गया। कैथोलिक चर्च के अन्दर जो सुधार हुआ। उसे ही प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से जाना जाता है।

एम्स्ट्रिंग मैकाले ने अपने शब्दों में लिखा है, “लूथरवादी पृथकता के 50 वर्ष बाद कैथोलिक चर्च कठिनता से भूमध्यसागर के तटों पर अपने को सुरक्षित रख पाया था। इस पृथकता के 100 वर्ष बाद प्रोटेस्टेन्ट धर्म कठिनता से भूमध्य सागर के तटों पर अपने को सुरक्षित रख पाया।”

स्वेन ने लिखा है, “रोमन कैथोलिक चर्च में सुधार की प्रेरणा प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति के महत्वपूर्ण परिणामों में एक थी। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन में भी नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। नैतिक धर्म और प्रतिष्ठा को बहुत महत्व दिया गया। इसी नैतिक धर्म और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए कैथोलिक चर्च में सुधार किया गया। कैथोलिक धर्म भी अपने चर्च के नियमों में सुधार करके अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना चाहता था। पाल तृतीय के पद पर आसीन होते ही 1534-50 पोप पद की नैतिक शक्ति और प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई जिसकी वजह से धर्मसुधार आन्दोलन के पुनरुत्थान के साथ-साथ जो प्रतिवादात्मक सुधार भी जारी था। प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन में धर्मनिरपेक्षता की भावना विकसित हुई। पोप के दैवी अधिकार कम हो गये। राजाओं के दैवी अधिकार स्थापित किए जाने लगे, प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के सभी समर्थकों ने ब्याज और लाभ का प्रबल विरोध किया। और अन्त में ब्याज और लाभ को प्रोत्साहित भी किया। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार से राष्ट्रीयता तथा निरंकुशता पर अधिक बल दिया जाने लगा। राष्ट्रीय चर्चों का निर्माण किया गया।

11.3.2 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के कारण:-

16 वीं शताब्दी में चर्च का विघटन हुआ तथा धर्म सुधार आन्दोलन के बीज पनपने लगे। धर्म सुधार आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य चर्च में तथा कैथोलिक धर्म में सुधार करना था। लेकिन इस आन्दोलन में हेनरी अष्टम ने ऐसी भूमिका निभाई की इस आन्दोलन का स्वरूप ही बदल गया। इसी के परिणामस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का श्री गणेश हुआ।

धार्मिक कारण- धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप पोप की लौकिक सत्ता तथा उसका व्यापक विरोध किया गया था। लेकिन धीरे-धीरे सुधार के बजाय स्थिति खराब होती गई। लोगों की अनैतिकता तथा सांसारिकता के कारण पोप के प्रति आदर कम होने लगा तथा कैथोलिक धर्म सुधार की चर्चा जोरों पर हो गई। उस समय कैथरिन की पुत्री मैरी शासन की उत्तराधिकारी थी, जो वह कैथोलिक और चर्च की कट्टर समर्थक थी। उसने अपने कार्यकाल में (1553-1558) ई0 में अपने दो पूर्ववर्ती शासकों (हेनरी अष्टम तथा एडवर्ड अष्टम) के कार्यों की कड़ी आलोचना की। तथा उनके चरित्र पर तंज कसा, और उन्हें कार्यों से मुक्त कर दिया। मैरी ने कैथोलिक धर्म में अपनी कट्टर आस्था प्रकट की तथा उस समय कैथोलिक समर्थक स्पेन के फिलिप द्वितीय से विवाह कर लिया। दोनों ने मिलकर कैथोलिक धर्म को लोगों पर थोपना शुरू किया- जो लोग कैथोलिक धर्म को मानने के लिए तैयार नहीं थे उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया तथा लोगों के मन में प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रति विरोध

पैदा किया गया- कैथोलिक पादरी वर्ग का भ्रष्टाचार अपने चरम पर था। गिरजाघर अनाचार का केन्द्र बन गया था। गिरजाघर में रहने वाले लोगों पर किसी भी तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अनुशासन नाम की कोई चीज नहीं थी। कैथोलिक धर्म में धन की लिप्सा और परम्पराओं का दुरुपयोग किया गया। आम जनता का भी धार्मिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होने लगा। धर्म सुधार आन्दोलन से भी आम जनता की इच्छाओं का मार्ग प्रशस्त हुआ लेकिन उपर्युक्त समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हुआ। धर्म सुधार आन्दोलन का शान्तिपूर्ण प्रयास असफल था। जिसके परिणामस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का उदय हुआ।

आर्थिक कारण- धार्मिक दोषों के साथ साथ कैथोलिक धर्म में आर्थिक दोष आ गये थे। पोप और चर्च आम जनता का शोषण करने लगे। चर्च और पोप के पदाधिकारियों ने कर की व्यवस्था लागू की गई थी। कर प्रणाली का दुरुपयोग किया गया। कर प्रणाली में सुधार के लिए धर्म सुधार आन्दोलन के माध्यम से कोई सफलता नहीं मिली। चर्च और पोप के पादरियों ने यह व्यवस्था बनाई थी की पुण्य प्राप्त करने के लिए चर्च को भूक्षेत्र दान में दिया जाए। ईश्वर के लिए आभार प्रकट करने के लिए धन की व्यवस्था किया जाए। इस प्रकार पश्चिमी यूरोप में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। कई सामन्ती कर व्यवस्था लगाये गये थे। चर्च उन करों को वसूलता था। सभी चर्च के लोग धनी व्यक्ति हो गये थे। यूरोपीय राज्यों का मध्यम वर्ग इस व्यवस्था से परेशान हो गया था। धर्म सुधार आन्दोलन के माध्यम से कैथोलिक धर्म समाप्त होने के कगार पर था। कैथोलिक धर्म के धर्माधिकारियों ने सोचा की अगर इन सब बुराइयों को समाप्त न किया गया तो कैथोलिक धर्म पूरी तरह समाप्त हो जायेगा। उत्तरी मध्य जर्मनी स्कैन्डीनेविया फिनलैण्ड स्टोनिया नाटविया उत्तरी नीदरलैण्ड स्विटजरलैण्ड का अधिकांश क्षेत्रों से प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई थी। कैथोलिक धर्म के मनीषियों को गम्भीर चिन्ता थी। कैथोलिक धर्म तथा चर्च इतना धनी हो गया था कि वे अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिए दान की हुई सम्पत्ति को चल अचल सम्पत्ति मानते थे। पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक राज्य का प्रत्येक चर्च सबसे बड़ा भू-स्वामी था। उसे कई राज्यों से धन का बड़ा भाग प्राप्त होता था। जब प्रत्येक व्यक्ति के पास अथाह सम्पत्ति हो गई तो लोगों ने उसका विक्रय करना शुरू कर दिया इस प्रकार विलासिता बढ़ने के साथ साथ आय का नया स्रोत भी बन गया। धीरे-धीरे कैथोलिक धर्म में भ्रष्टाचार फैल गया और अधिक सम्पत्ति भ्रष्टाचार का साधन बन गया। इन सभी दोषों से निजात पाने के लिए लोगों ने प्रोटेस्टेन्ट धर्म अपनाया। उसी का दूसरा नाम प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन है।

राजनीतिक कारण- प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन धार्मिक विद्वानों की देन थी। जो अपनी पवित्रता सदाचार त्याग आदि गुणों के आधार पर कैथोलिक धर्म में सुधार किया जाने का प्रयास किया जा रहा था। उस समय सभी धर्मों में यह था की कहीं न कहीं वह धार्मिक सत्ता होने के साथ साथ राजनीतिक सत्ता भी थी। कैथोलिक धर्म चर्च से जुड़ा हुआ था। चर्च के पादरी और अधिकारी

सभी सत्ता के लोलुप थे। वे सभी एक दूसरे की सत्ता में हस्तक्षेप नहीं पसन्द करते थे। राजा भी उस समय अपने आपको सर्वोपरि मानता था। आम जनता इस सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थी। धीरे-धीरे राजा के समर्थकों में ही आपसी वैमनस्य पनपने लगा राजा भी कैथोलिक धर्म का प्रबल समर्थक तो था। लेकिन राजा का यह दृष्टिकोण नहीं था कि चर्च की जो सम्पत्ति थी, सभी पादरी और अधिकारी उसका व्यक्तिगत उपभोग करें। उसे सार्वजनिक सम्पत्ति माना जाए। लेकिन इतना होने के बाद भी आम जनता में राष्ट्रवाद की भावना पनपने लगी, तथा कैथोलिक धर्म के प्रति लोगों का विश्वास उठने लगा तथा इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन आरम्भ हो गया था।

अन्य कारण- कैथोलिक धर्म के विरुद्ध विद्वानों ने आवाज उठाई। सभी ने प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया। मार्टिन लूथर ने अपने लेख के माध्यम से आम जनता को जागृति फैलायी चर्च और पोप की बुराइयों अपने चरम पर थीं। इसलिए मार्टिन लूथर ने अपनी लैटिन भाषा में लिखे हुए लेखों का जर्मनी की भाषा में अनुवाद किया। इस रचना के माध्यम से लोगों को कैथोलिक धर्म तथा चर्च की बुराइयों के बारे में बताया गया। आम जनता भी सामाजिक स्तर राजनीतिक स्तर पर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। जिससे प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के रास्ते और भी अग्रसर हो गये।

11.3.3 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की व्याख्या

प्रारम्भ में जब प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उस समय पोप ने उसे पूरी शक्ति लगाकर रोकने का प्रयास किया। लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि केवल शक्ति के प्रयोग से किसी आन्दोलन को रोका नहीं जा सकता। इसके लिए तो यह परमावश्यक था कि कैथोलिक चर्च के दोषों तथा दुर्बलताओं को निकाल कर फेंक दिया जाए तभी कैथोलिक धर्म के विरुद्ध प्रतिवादात्मक आन्दोलन का सामना किया जा सकता है। पोप पाल तृतीय ने इसका नेतृत्व किया।

हेज ने लिखा है कि “कैथोलिक धर्म सुधार पोपशाही में सुधार के लिए की गई व्यवस्था ट्रेट काउन्सिल जेसुरट संघ और धार्मिक न्यायालय द्वारा सम्पादित हुआ था। ईसाई जगत में बहुत से ऐसे सुधारक भी थे जो कैथोलिक चर्च की एकता संगठन सिद्धान्तों में बिना परिवर्तन किए कैथोलिक धर्म में सुधार चाहते थे।” प्रतिवादात्मक धर्म सुधार पादरियों में अनुशासन तथा सुधार चाहते थे। इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अनेको तत्व ने योगदान किया था।

कैथोलिक धर्म सुधार का उद्देश्य मुख्य रूप से कैथोलिक धर्म में पवित्रता तथा ऊँचे आदर्शों की स्थापना करना था।” इसमें सम्मिलित पोप ट्रेट के काउन्सिल (Council of Trent) को सुधार

जेसुइट पादरियो (Jesuit priests) का समर्पित कार्य धार्मिक न्यायालय तथा नास्ति का विरोध आदि था।

11.3.4 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की संस्थाएँ

- 1- **सुधारवादी पोप-** कैथोलिक चर्च के अन्दर सुधार का कार्य पोप पाल तृतीय ने आरम्भ किया था। जिस समय कैथोलिक धर्म का विरोध लूथर ने किया था। उस समय पोप लियो दसम था। उसके उत्तराधिकारी पोप क्लीमेन्ट सप्तम सांसारिक मामलों में अधिक रुचि रखते थे। उस समय सामाजिक स्तर पर लूथर की कड़ी आलोचना के चर्चे थे। लेकिन समाज में लूथर की आलोचनाओं से अच्छा प्रभाव पड़ा था। लूथर ने अपने रचनाओं के माध्यम से भ्रष्ट पोप तथा विलासी जीवन की आलोचना की थी। पोप पाल तृतीय ने कहा की उसी व्यक्ति को चर्च का पादरी बनाया जाए जो अपने ज्ञान तथा पवित्र जीवन के लिए विख्यात हो। उसने चर्च की समस्याओं के समाधान के लिए सभा बुलाने का आग्रह किया। पोप पाल तृतीय के इस सुधारवादी कार्यक्रम को उसने उत्तराधिकारी पोप पाल चतुर्थ ने जारी रखा। उसका उत्तराधिकारी पोप पायस पंचम था। अपने जीवन के माध्यम से सादगी का मिसाल पेश किया। उसने भिक्षुओं के समान त्यागपूर्ण जीवन बिताया। उसे रोम की सड़कों पर पैदल चलते देखा जाता था। वे अध्ययनशील थे। तथा उनका जीवन त्यागपूर्ण जीवन बिताया। सभी विषय और पादरी भी अपने धार्मिक कर्तव्यों का नियमित रूप से पालन करते थे। वे अध्ययनशील थे। उनका जीवन त्यागपूर्ण था।
- 2- **ट्रेन्ट की काउन्सिल:- (Council of Trent)-** पोप पाल तृतीय की स्वीकृति से ट्रेन्ट में कैथोलिक चर्च की सभा 1545 ई० में नियन्त्रित की गई। पोप के सुधारवादी कार्यक्रम को इस सभा ने पूरा किया। इस सभा में चर्च के प्रकाण्ड विद्वानों ने भाग लिया था। इस सभा को इसलिए बुलाया गया कि चर्च के दोषों को दूर किया जा सके। अतः ट्रेन्ट की सभा केवल कैथोलिक चर्च की सभा रह गई। इसका उद्देश्य मात्र कैथोलिक धर्म में सुधार करना रह गया।

ट्रेन्ट धर्म सुधार परिषद के निर्णय इस प्रकार थे-

1. सभा ने कैथोलिक धर्म के उन सिद्धान्तों को पुष्ट कर दिया। जो 13 वीं शताब्दी से टामस एक्वीनास ने पुष्ट किए थे।
2. सभा ने यह बताया गया की कैथोलिक धर्म का आधार बाइबिल था। बाइबिल का लैटिन रूप प्रमाणिक माना गया। अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद को अप्रमाणिक माना गया।
3. मुक्ति के लिए सत्कर्ष तथा पुण्य के कार्यों को आवश्यक बताया गया।

सन्तो, मूर्ति पूजा, शुद्धिकरण तथा क्षमा-पत्रों में विश्वास प्रकट किया गया। समस्त कैथोलिकों पर पोप की आध्यात्मिक सत्ता स्वीकार की गई। धार्मिक मामले में पोप की सत्ता को अन्तिम सर्वोच्च माना गया। सभा ने यह भी स्पष्ट किया की अनुशासन बनाये रखने के लिए निर्णय दिया। विशपो तथा पादरियों में योग्यता को वरियता दी जाए। पदों का क्रय विक्रय बन्द कर दिया जाए। कैथोलिक धर्म की भाषा लैटिन होगी। धर्म के अध्ययन के लिए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था होगी। निबिद्ध पुस्तकों की सूची बनाई गई। कैथोलिक धर्म के पुनर्गठन तथा प्रति सुधार आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

3- जेसुएट संघ:- Jesuit order- कैथोलिक चर्च के सुधार में अनेक धार्मिक संघों का भी योगदान 1520 ई० में रोम में दि ओरेटरी आफ डिवाइन लव The Oratory of Divine Love नामक संस्था स्थापित किया गया था। इस प्रकार ऐसी अनेक संस्था की स्थापना की गई। जिसमें यह संस्था त्याग ज्ञान दान की परम्पराओं को पुनर्जीवित किया गया। इन धार्मिक संगठनों में सबसे प्रभावशाली और शक्तिशाली संगठन जेसुएट संघ था। 1534 ई० में सोसाइटी आफ जीसस की स्थापना की। इस संस्था का संगठन सेना के समान था। जिसका संगठन सेना के समान था। जिसका सेनापति रोम में रहता था। इसके सदस्यों को ब्रह्मचर्य दरिद्रता आज्ञापालन पोप के प्रति अटल भक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। कैथोलिक धर्म में सुधार के लिए प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4- धार्मिक न्यायालय- कैथोलिक धर्म की शुद्धता को बनाये रखने के लिए इन्कीजीशन या धार्मिक न्यायालयों की स्थापना की गई थी। न्यायालय धर्मद्रोहियों को दण्ड देते थे। 1542 ई० में पोप पाल तृतीय ने इस संस्था को पुनर्जीवित किया। मध्ययुगीन यूरोप के राज्यों में इस प्रकार के कई न्यायालय थे। 1542 ई० में पोप ने इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना की। इसका संचालन छः कार्डिनलों के हाथों में रखा। उसकी अनुमति से राज्य अपने क्षेत्र में न्यायालय स्थापित कर सकता था। बाद में न्यायालय में भी अत्याचार फैल गया, तथा कैथोलिक धर्म में सुधार की परम आवश्यकता महसूस की गई। जिसके फलस्वरूप प्रतिवादात्मक धर्म सुधार की आवश्यकता महसूस की गई। इस आन्दोलन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। धर्म सुधार आन्दोलन ने जिस प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन को जन्म दिया उसके फलस्वरूप एक शताब्दी से अधिक समय तक धार्मिक संघर्षों का जोर रहा। अन्त में 1548 ई० में बेस्टफालिया के सन्धि द्वारा यूरोप के धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना तो और भी काफी समय के बाद हुई।

11.3.5 धर्म सुधार आन्दोलन के अग्रणी विचारक:

इस आन्दोलन का प्रमुख प्रवर्तक **मार्टिन लूथर** था। लूथर प्रारम्भ से धार्मिक प्रवृत्ति का था। अपनी रोम यात्रा में पोप की अनैतिकता और धर्माधिकारियों की धन-लोलुपता ने उसके हृदय में चर्च सुधार की तीव्र इच्छा जगा दी।

लूथर ने पोप के विरुद्ध जर्मन की राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करते हुए स्पष्ट किया कि पोप ने अवैध रूप से शक्ति अपने हाथों में संचित कर रखी है, लौकिक मामलों में पोप का हस्तक्षेप अनुचित है। पोप का रोम के चर्च से बाहर के प्रदेशों पर कोई अधिकार नहीं है और जर्मनी में तथा अन्य देशों में चर्च की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार वहाँ के शासकों का है। पोप तथा अन्य पादरी केवल चर्च के अधिकारी हैं और लौकिक शासकों के लिए उनमें तथा अन्य नागरिकों में कोई भेद नहीं है।

यद्यपि लूथर धार्मिक बल-प्रयोग के विरुद्ध था लेकिन वह यह नहीं समझ सका कि धर्म, धार्मिक अनुशासन और सत्ता के बिना किस प्रकार काम चला सकता है। संकोचपूर्वक लेकिन विश्वास-पूर्वक वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधर्मिता का और विषमतायुक्त शिक्षा का दमन होना चाहिए। इस स्थिति में, अपनी प्रवृत्ति के बावजूद, उसने बल-प्रयोग को आवश्यक समझा। चूँकि चर्च अपनी दुर्बलताओं को खुद ठीक नहीं कर सकता था, अतः उन दुर्बलताओं को ठीक करने का उत्तरदायित्व लौकिक शासकों पर आ गया। अतः उससे अच्छा और एकमात्र अवशिष्ट उपाय यह रह गया कि राजा, शासक, कुलीन, नगर और समुदाय धर्म-सुधार आरम्भ कर दें। जब-जब वे ऐसा करेंगे तो बिशप और पादरी जो इस समय डरते हैं, विवेक का अनुसरण करने के लिए विवश हो जाएँगे।

धर्म-सुधार की सफलता के लिए शासकों पर निर्भर हो जाने से लूथर के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस सिद्धान्त पर बल दे कि प्रजा को विनम्रतापूर्वक अपने शासकों की आज्ञा माननी चाहिए। उसने शासकों को देवता स्वरूप और सामान्य मनुष्य को 'शैतान' मानते हुए कहा-“इस संसार के शासक देवता हैं और सामान्य मनुष्य शैतान हैं। सामान्य मनुष्यों के माध्यम से ईश्वर कभी-कभी ऐसे कार्य करता है जो वह सीधे शैतान के माध्यम से करता है। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापों के दण्ड के तौर पर विद्रोह करवाता है।” लूथर ने कहा-“मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्य की तुलना में शासक के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन कर लूँ।” निष्क्रिय आज्ञापालन का प्रबल समर्थन करते हुए उसने घोषित किया-“अपने से ऊँचे लोगों की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इससे अच्छा और कुछ नहीं है। इसलिए अवज्ञा, हत्या, अपवित्रता, चोरी और बेईमानी, सबसे बड़े पाप हैं।”

फिलिप मेलान्कथॉ Philip Melancthon के विचार

मार्टिन लूथर का शिष्य द्वितीय फिलिप मेलॉकथाँ (1497-1560) मैक्सी की दृष्टि में सुधारवादी क्रान्ति का वास्तविक दार्शनिक था क्योंकि वह लूथर की अपेक्षा अधिक बुद्धिवादी, विनम्र, मानवतावादी और समन्वयवादी था। उसने सुधारवादी क्रान्ति का सैद्धान्तिक दर्शन प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए अपने विचारों को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया, लेकिन क्रान्ति में भाग लेने के फलस्वरूप उसे लूथर के समान ही विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और फलस्वरूप उसके विचारों में भी आत्म-विरोध और असंगतियाँ प्रवेश कर गईं।

मेलॉकथाँ ने ईश्वर की इच्छा को राजसत्ता का आधार माना और कहा कि तर्कों द्वारा भी उसे प्राकृतिक सिद्ध किया जा सकता है। मेलॉकथाँ ने राजसत्ता का मुख्य कर्तव्य यह माना कि वह मानव स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे, शान्ति की व्यवस्था करे, अपराधियों को दण्ड दे और लोगों में धार्मिकता और नैतिकता का संरक्षण एवं विकास करे।

धर्मसत्ता और राजसत्ता के बीच सम्बन्ध पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मेलॉकथाँ ने कहा कि “राज्य का कार्य केवल पेट-पूजा की व्यवस्था ही नहीं है वरन आत्मा का कल्याण भी है।” आत्मिक कल्याण के लिए राज्य द्वारा उन बाह्य व्यवस्थाओं का निर्माण किया जाना चाहिए जिनमें व्यक्ति का आन्तरिक विकास हो सके। मेलॉकथाँ ने कहा कि आत्मिक और भौतिक कार्यों के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती कि दोनों एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र रहें तथा एक के बिना दूसरे का काम चल सके। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस सत्य को स्वीकार किया जाना चाहिए।

जॉन काल्विन(John Calvin) के विचार

सन् 1509 में फ्रांस के पिकाडो नामक नगर में जन्मा जॉन काल्विन लूथर के समान ही धर्म-प्रचारक था। धर्म-सुधार राजनीतिक विचारों को क्रमबद्ध रूप से रखने और उनका अधिक गतिशील विवेचन करने का श्रेय काल्विन को ही दिया जाता है और इसीलिए कभी-कभी उसको सुधार आन्दोलन का ‘सिद्धान्तवेत्ता’ भी कह देते हैं। उसके प्रतिनिधि सद्ग्रन्थ ‘इन्स्टीट्यूट ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन’ में उसके द्वारा प्रोटेस्टेंट धर्म का एक तर्कपूर्ण, क्रमबद्ध एवं व्यापक विवेचन उपलब्ध होता है।

काल्विन ने बतलाया कि ईश्वर की निरपेक्ष सम्प्रभुता सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है। यह सम्पूर्ण विश्व विराट ईश्वरीय नियति के चक्र में बँधा हुआ है और समस्त घटनाएँ ईश्वरीय संकल्प का परिणाम हैं। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ, उदाहरणार्थ परिवार, सम्पत्ति, चर्च और राज्य ईश्वरीय इच्छा का ही एक अर्थ में प्रतिनिधित्व करती हैं। चर्च और राज्य मिलकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य स्थापित करें, यही कल्याणकारी कार्य है।

काल्विन के धर्म का मूलमन्त्र था- मनुष्य ईश्वर का बनाया हुआ उपकरण है। मनुष्य की इच्छा को फौलादी और उसके हृदय को कठोर बनाने के लिए इससे अच्छा कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। काल्विन के इस नियतिवाद के सिद्धान्त का सार्वभौम दुर्घटना की वर्तमान संकल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसने संसार और मनुष्य के ऊपर ईश्वर की प्रभुसत्ता का भरपूर बखान किया था।

काल्विन के चर्च और राज्य की पृथकता स्वीकार करते हुए भी यह माना कि दोनों स्वभाव से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। दोनों की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। दोनों संस्थाएँ ईश्वरीय इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करती हैं, अतः दोनों को मिलाकर पृथ्वी पर ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए पर दोनों में उसने लौकिक संस्थाओं को अधिक महत्त्व दिया। काल्विन ने धर्म को राज्य की आत्मा मानते हुए बतलाया कि धर्म की रक्षा करना राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है। साथ ही शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना भी राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है।

लूथर की भाँति ही काल्विन ने भी निष्क्रिय आज्ञापालन पर बल दिया। उसने राज्य की आज्ञा का मूक भाव से पालन करना प्रजा का पवित्र धार्मिक कर्तव्य बतलाया। उसने कहा कि लौकिक शक्ति-मुक्ति का बाहरी साधन है, अतः शासक का पद अत्यन्त सम्माननीय है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। यदि कुछ लोगों को खराब शासक मिलता है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगों को खराब शासक की भी उसी भाव से आज्ञा पालन करनी चाहिए जिस भाव से वे अच्छे शासक की आज्ञा का पालन करते हैं। यह वास्तविक गौरव पद का है।

काल्विन ने राज्य और चर्च दोनों को पृथक रखते हुए इनकी एक सीमा-रेखा भी खींच दी थी, जिसका दोनों ही अतिक्रमण नहीं कर सकते थे। अतः इसका भी महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि काल्विनवाद जहाँ-जहाँ फैला, वहाँ-वहाँ इसके अनुयायियों ने उन सब शासकों का विरोध किया, जो धर्म के मामले में हस्तक्षेप करते थे। इससे धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं में सूक्ष्म भेद करने का विचार उत्पन्न हुआ।

जॉन नॉक्स के विचार John Knox

मार्टिन लूथर और काल्विन दोनों अनुदार रूढ़िवादी थे जिन्होंने राज्य की दैवी उत्पत्ति स्वीकार करके राजकीय अधिकारियों के गौरव में वृद्धि की तथा निष्क्रिय-आज्ञाकारिता का उपदेश देकर राजकीय निरंकुशतावाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु जब स्कॉटलैण्ड, फ्रांस एवं नीदरलैण्ड में राज्य द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त की आड़ में काल्विनवादियों पर अत्याचार किए जाने लगे तो काल्विन के समर्थकों ने राज्य के प्रति निष्क्रिय आज्ञाकारिता के सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक समझा और इस अवधारणा का विकास किया कि अन्तःकरण की स्वतन्त्रता आज्ञापालन से ऊपर है, अतः व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है। फ्रांस में कतिपय काल्विनवादियों ने काल्विनवाद को

प्रकृतिक कानूनों में मिला दिया जिसके अनुसार शासक और शासित दोनों ही कानूनों के अधीन थे। इस सिद्धान्त के आधार पर काल्विनवादियों ने राज्य की शक्तियों पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए जो उनके लिए खतरे बन गए थे।

मूलतः नॉक्स ने काल्विन के विचारों का ही अनुसरण करते हुए ईसाई सिद्धान्त की उसकी अकाट्य व्याख्या को स्वीकार किया। उसने चर्च के अनुशासन को स्वेच्छा से न मानने वालों के प्रति चर्च द्वारा कठोर कार्यवाही किए जाने के विचार का भी समर्थन किया। उसने काल्विन की इस धारणा की पुष्टि की कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म का और उसके अनुशासन का दृढ़ता से पालन करना चाहिए किन्तु जहाँ काल्विन द्वारा समर्थित निष्क्रिय आज्ञापालन का सिद्धान्त सामने आया, उसने इसका खण्डन करते हुए घोषित किया कि “जहाँ राजा ईश्वर के वचन, सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है।”

11.3.6 धर्म-सुधार आन्दोलन की देन और उसका महत्त्व:

धर्म-सुधार आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं-

प्रथम, धर्म-सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने पोप की सर्वोच्च प्रभुता को टुकरा कर शताब्दियों से चले आ रहे रोमन चर्च के एकछत्र साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। अब रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी अनेक राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हो गई। धार्मिक एकता का प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों में विभाजन हो गया।

द्वितीय, सुधारवादी आन्दोलन ने चर्च को राज्य का वशवर्ती बनाकर मध्ययुगीन विश्व-साम्राज्य की धारणा में क्रान्तिकारी एवं मौलिक परिवर्तन किया। चूँकि इसके कारण राष्ट्रीयता के विचारों को प्रोत्साहन मिला। पोप का सर्वत्र विरोध राष्ट्रीयता के आधार पर किया गया और साम्राज्य का स्थान प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया।

तृतीय, धर्मसुधार आन्दोलन का एक तात्कालिक परिणाम राजसत्ता के निरंकुश अधिकारों में वृद्धि और निरंकुश राजतन्त्र को यूरोप में एक सामान्य शासन के रूप में बनाना हुआ। साथ ही साथ व्यक्ति एवं धार्मिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास भी हुआ।

चतुर्थ, इस आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण देन सहिष्णुता का विकास भी था। धार्मिक संघर्ष का अन्ततः एकमात्र निराकरण सहिष्णुता को ही समझा जाने लगा। प्रोटेस्टेंट राजा कैथोलिक प्रजा का तथा कैथोलिक शासक प्रोटेस्टेंट प्रजा का दमन करने में असफल रहे। शनैः शनैः एवं परिस्थितिवश यह विचार पनपता गया कि सुख और समृद्धि तभी संभव है वह राज्य धर्मनिरपेक्ष वातावरण पैदा

करे। यदि राज्य धार्मिक मतभेदों से ऊपर रहेगा तभी विभिन्न धर्मावलम्बियों में एक सामान्य राजनीतिक निष्ठा रखना संभव हो सकेगा।

अन्त में फिगिस के शब्दों में- “जहाँ तक धर्मसुधारवादी आन्दोलन ने एक सुसंगठित, सर्व-शक्तिमान, क्षेत्रीय एवं नौकरशाही प्रधान राज्य की सृष्टि में सहायता दी, जहाँ तक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया, वहाँ तक उसे अपने परिणामों में आधुनिक समझा जा सकता है, किन्तु जहाँ तक इसकी प्रवृत्ति सामुदायिक आदर्शों, धार्मिक, राजनीतिक शासन के रूप के लिए धार्मिक ग्रन्थों की अपील को पुनर्जीवित करने की थी, वहाँ तक यह उन मध्यकालीन विचारों की ओर वापिस लौट जाना था जो अरस्तू एवं पुनर्जागरण के निश्चित प्रभाव के कारण अधिकांशतः विलुप्त होते जा रहे थे।” इस आन्दोलन के प्रारम्भ में धर्मशास्त्रों पर बल देने की प्रवृत्तियाँ प्रबल रहीं, किन्तु अन्त में लोकतन्त्र की समर्थक और निरंकुश राजसत्ता का विरोध करने वाली प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। प्राकृतिक दशा, सामाजिक समझौता, जनता की प्रभुसत्ता और प्रतिनिधि शासन के विचार उत्पन्न हुए। इन्होंने 17 वीं, 18 वीं, 19 वीं शताब्दियों के महान राजनीतिक विचारों का सूत्रपात किया।

11.3.7 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन का कई देशों में प्रचार- प्रसार

प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के प्रचार प्रसार में कई देशों के विचारों तथा सुधारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके अन्तर्गत निम्न देश इस प्रकार हैं।

स्विटजरलैण्ड - स्विटजरलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार ज्विगली (Huldrych Zwingli) ने किया। उसका जन्म 1484 ई० में स्विटजरलैण्ड के एक गाँव में हुआ था। उसने विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया था। उस पर मानववाद का गहरा प्रभाव था। 1519 ई० में वह न्यूरीथ का विशप था। लूथर की तरह उसने भी पोप और चर्च के क्षमा पत्रों का विरोध किया। 1525 ई० में उसने नवीन चर्च की स्थापना की। उसके धार्मिक विचार लूथर से भिन्न थे। वह मानवता का पुजारी था। उसने लोगों को दबावपूर्ण प्रोटेस्टेन्ट धर्म मानने के लिए बाध्य हो। लेकिन उसने चर्च का संगठन जनतन्त्रात्मक रूप से किया। जबकि लूथर के चर्च का संगठन उच्च तथा धनी वर्गों पर आधारित था। लूथर रहस्यवादी था। जबकि जिंग्वली मानवतावादी था।

डेनमार्क और नार्वे- इन राज्यों में लूथरवाद का प्रसार वहाँ के सम्राट फ्रेडरिक के प्रयास से हुआ था। वह राजसत्ता में पोप और चर्च के हस्तक्षेप का विरोधी था। अतः उसने प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन को स्वीकार किया और जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट धर्म प्रचारको को अपने राज्य में निमन्त्रित किया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म प्रचारको के आमन्त्रित करने पर प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रचारको ने डेनमार्क और नार्वे में अलग अलग संघों की स्थापना के माध्यम से लोगों को प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन

के बारे में बताया। लोगों ने भी चर्च तथा पोप के निरंकुशता को समाप्त करने के लिए लोगों ने इन विद्वानों तथा धार्मिक सम्मेलनों का प्रबल समर्थन किया तथा डेनमार्क और नार्वे में यह आन्दोलन पूरी तरह सफल रहा।

स्वीडन- 1583 ई0 में गस्टावस वासा(Gustav Vasa)के नेतृत्व में डेनमार्क से मुक्त होकर एक स्वतन्त्र राज्य (स्वीडन) की स्थापना हुई। स्वीडन में अपने विरोधी कैथोलिक धर्म को समाप्त करने के लिए उसने प्रोटेस्टेन्ट धर्म स्वीकार कर लिया और जर्मनी से लूथरवादी धर्म प्रचारको स्वीडन बुलाया। स्वीडन में कैथोलिक धर्म के सुधार की बात किया गया। तथा प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के सिद्धान्त से लोगों को परिचित कराया। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार में लोगों का समर्थन बहुत भारी था। तथा लोगों ने कैथोलिक धर्म को मानने के बजाय प्रोटेस्टेन्ट धर्म को माना।

इंग्लैण्ड- इस समय इंग्लैण्ड में सम्राट हेनरी अष्टम या हेनरी की रानी केथरिन थी। सम्राट हेनरी तलाक देना चाहते थे। तलाक देने के लिए हेनरी अष्टम ने पोप तथा चर्च की सत्ता को समाप्त कर दिया। क्योंकि चर्च तथा पोप की सत्ता किसी और को तलाक देने की अनुमति नहीं देता है। लेकिन वह प्रोटेस्टेन्ट धर्म का भी प्रसार प्रचार नहीं कर रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र षष्ठम के काल में प्रोटेस्टेन्ट धर्म स्वीकार कर लिया। प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा कैथोलिक धर्म संघर्ष बना रहा और अन्ततः एलिजावेथ ने चर्च की स्थापना की। जो उदार प्रोटेस्टेन्ट धर्म का रूप था, आम जनसहमति थी, चर्च के नियमों तथा कानूनों में परिवर्तन था। चर्च के अधिकारी तथा पादरी भी आम जनता को ध्यान में रखकर कार्य कर रहे थे। ताकी प्रोटेस्टेन्ट धर्म में आपसी संघर्ष न हो।

काल्विन (फ्रांस)- प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सबसे प्रभावशाली नेता काल्विन था। उसे प्रोटेस्टेन्ट धर्म का पोप कहा जाता है। उसका जन्म फ्रांस के एक नगर में 1509 ई0 में हुआ था। परन्तु ज्विंगली के दिवंगत होने के पश्चात काल्विन स्विजरलैण्ड में बस गया। उसने फ्रांस में प्रोटेस्टेट धर्म का प्रचार किया। परन्तु कुछ समय पश्चात फ्रान्स के राजा ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अतः वह परेशान होकर स्विटजरलैण्ड चला गया। 1536 ई0 में दि इन्स्टीट्यूट्स आफ क्रिश्चियन रिलीजन पुस्तक की रचना की। जेनेवा में प्रमुख उपदेशको की नियुक्ति की नीदरलैण्ड तथा स्काटलैण्ड में उसके उपदेशों से प्रभाव के कारण प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन सफल रहा। उस समय लूथरवाद दुर्बल हो रहा था, तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म को शक्ति दी।

11.3.8 यूरोप में धर्म सुधार के प्रचार प्रसार और परिणाम:

1517 ई0 में जर्मनी में मार्टिन लूथर ने चर्च में सुधार की माँग की थी। चर्च और पोप तथा अधिकारियों ने इस माँग का विरोध किया। जिसकी वजह से लूथर को दण्ड देने का प्रावधान भी किया गया। लेकिन लूथर को जनसमर्थन प्राप्त था। जनता लूथर के विचारों से परिचित थी। लूथर का

सिद्धान्त लोगों को पसन्द थी। इसी कारण लूथर के शिक्षाओं का प्रचार प्रसार हो रहा था। लूथर को प्रबुद्ध वर्ग मानता था। वह आर्थिक सिद्धान्तों में सम्पत्ति अर्जन के स्रोतों का जिक्र किया है। जिसकी वजह से मध्यम वर्ग तभी उसे बहुत मानता था। अन्ततः 1555 ई0 में आम्सवर्ग की सन्धि (Peace of Augsburg) के द्वारा जर्मनी में प्रोटेस्टेन्ट धर्म को मान्यता प्राप्त हो गई। चर्च के कर्मकाण्डों पर तंज कसा गया। तथा ईश्वर की आस्था में विश्वास रखा गया। चर्च में विवाह की अनुमति नहीं दी जाती थी। जिससे भ्रष्टाचार पर लगाम लगाई जा सके तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्म को राष्ट्रीय स्वरूप दिया जा सके।

11.3.9 प्रतिवादात्मक धर्म सुधार के परिणाम और महत्त्व:

- 1- राष्ट्रीयता तथा निरंकुशता पर अधिक बल दिया जाने लगा। राष्ट्रीय चर्चों का निर्माण किया जाने लगा। राष्ट्रीयता को काफी बल दिया जाने लगा।
- 2- कैथोलिक धर्म में विरोध पैदा होने लगा। रोमन चर्च के स्थान पर अनेक देशों में प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई।
- 3- धर्मनिरपेक्षता की भावना विकसित हुई।
- 4- पोप के दैवी अधिकार कम होने लगे तथा सम्राट के दैवी अधिकार स्थापित होने लगे।
- 5- कैथोलिक धर्म ब्याज और लाभ का प्रबल विरोधी था। लेकिन लूथर ने ब्याज और लाभ को प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे व्यापार विकसित हो गया। तथा पूँजीवाद का उदय हुआ।
- 6- प्रोटेस्टेन्ट धर्म में कला का विकास अवरूद्ध हो गया था। कैथोलिक भवनों तथा ईमारतों को विनष्ट कर दिया गया था।
- 7- प्रोटेस्टेन्ट ने कैथोलिक धर्म के विश्वविद्यालयों को विनष्ट करना चाहा। अतः जनता में शिक्षा का प्रचार प्रसार बाधित हो रहा था। लूथर और काल्विन शिक्षा के लिए प्रयत्न किया। जो मात्र मध्यम वर्ग तक ही रह गया।
- 8- भौतिकवाद की उत्पत्ति हुई। धार्मिक उथल पुथल के परिणाम स्वरूप चर्च की उपेक्षा की गई धर्मशास्त्र की उपेक्षा की गई, लौकिकता लोगों की रूचि का विषय बन गया।
- 9- धार्मिक उत्पीड़न तथा धार्मिक युद्धों की भीषण वेदना ने यूरोप वासियों को झकझोर कर रख दिया। फलतः प्रोटेस्टेन्ट धर्म की स्थापना हुई।
- 10- चर्च की सत्ता समाप्त हो गई। इसके अन्तर्गत कई सम्प्रदायों का अभ्युदय हो रहा था।
- 11- पारिवारिक जीवन पर प्रभाव पड़ा। अब विवाह एक संविदा माने जाने लगा। जिसमें तलाक लिया जा सकता था। इसके लिए वैवाहिक न्यायालय स्थापित किए गये।
- 12- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रोटेस्टेन्ट राज्य और राजा आपस में सहयोग करने लगे।

16वीं शताब्दी में यूरोप में जो धार्मिक उथल पुथल हुई उसका मूल कारण भौतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियाँ थी। हजारों वर्षों से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आक्रान्त करने वाले कैथोलिक चर्च का स्वरूप बदलना अनिवार्य हो गया था। आर्थिक परिस्थितियों ने समाज के समक्ष नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दी थी। मध्यम वर्ग अस्तित्व में आ गया नगरों का महत्त्व बढ़ गया। सामन्तवाद पतनोन्मुख हो चला था। मनुष्य में वैचारिक शक्ति पनप उठी थी। पढ़ना लिखना सुलभ हो गया था। वैज्ञानिक प्रगति का सूत्रपात हो गया था। ऐसी स्थिति में चर्च की सत्ता जो विकृत हो चुकी थी। अस्वीकार करना असम्भव था। इसलिए नवीन स्वार्थी पे नवीन आन्दोलन का जन्म हुआ।

सेबाइन के शब्दों में- “प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम स्वरूप सामाजिक विडम्बनाओं का खात्मा हुआ। मठों, मन्दिरों तथा चर्च में नई नियुक्तियाँ हुई, रोमन चर्च के ऊपर जो आरोप लगाये गये थे वे निराधार साबित हुए। मानवीय सभ्यता का पालन करने के लिए लोग आपस में प्रतिबद्ध हो गये। प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम स्वरूप समाज में धर्मसुधार आन्दोलन से जुड़े सभी संस्थाओं को समाप्त कर दिया गया। तथा नई संस्थाओं की स्थापना की गई।”

अभ्यास प्रश्न

- 1- प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सबसे प्रभावशाली नेता कौन था?
(अ) काल्विन (ब) विस्मार्क (स) फ्लूरेलिटीज (द) होपकिन्स
- 2- धर्म सुधार आन्दोलन को रोकने तथा उसको समाप्त करने हेतु प्रतिक्रिया स्वरूप कौन सा आन्दोलन हुआ।
(अ) किसान आन्दोलन (ब) केवेलियर आन्दोलन
(स) मजदूर आन्दोलन (द) प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन
- 3- मार्टिन लूथर ने अपनी रचनाएँ किस भाषा में लिखा?
(अ) लैटिन (ब) तुर्की (स) फारसी (द) हिन्दी
- 4- ट्रेन्ट काउन्सिल का आयोजन कब हुआ था।
(अ) 1545 (ब) 1547 (स) 1546 (द) 1548

11.4 सारांश:

धर्मसुधार आन्दोलन के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिवादात्मक धर्मसुधार आन्दोलन का श्री गणेश हुआ। पोप पाल तृतीय ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। कैथोलिक चर्च और पोप शाही में सुधार के लिए कई संस्थाओं का गठन किया गया। कैथोलिक चर्च भी अपनी खोई प्रतिष्ठा को बनाये रखना चाहता

था। इस धर्म को मानने वालों में लूथर, काल्विन, ज़िगेली आदि का नाम आता है। चर्च में पवित्र सेवा भावना की स्थापना हुई। वह पुनः शक्तिशाली बन सका। 100 वर्ष पश्चात भी प्रोटेस्टेन्ट धर्म कठिनता से अपने को बाल्टिक सागर के तटों पर सुरक्षित रख पाया।

11.5 शब्दावली:

पुनरुत्थान-	पुनःउत्थान
लौकिक-	जो दिखायी दे
आक्रांत-	अपराजित (जिस पर आक्रमण किया गया हो)
स्वामित्व-	किसी विषय पर अधिकार होना

11.6 अभ्यास प्रश्न के उत्तर:

१. (अ) काल्विन, २. (द) प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन,, ३. (अ) लैटिन ४. (अ) 1545,

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- सिंह, रघुवीर, मध्यकालीन विश्व का इतिहास, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली 2012.
- 2- वर्मा, एस0आर0, मध्य कालीन विश्व का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2003.
- 3- शर्मा, प्रभुदत्त, पाश्चात् राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो, जयपुर 2002

11.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री:

- 1- रघुवीर सिंह- मध्यकालीन विश्व का इतिहास
- 2- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-प्रो0ए0वी0 लाल
- 3- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा

11.9 निबन्धात्मक प्रश्न:

- 1- धर्मसुधार आन्दोलन से आप क्या समझते हैं विवेचना कीजिए।
- 2- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन की विवेचना कीजिए?

-
- 3- प्रतिधर्मसुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर के योगदान की विवेचना कीजिए।
 - 4- यूरोप में धर्मसुधार आन्दोलन के परिणाम बताइए?
 - 5- प्रतिधर्म सुधार आन्दोलन की सफलता के कारण बताइए?

इकाई -12 : मैकियावेली

इकाई की संरचना

- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 उद्देश्य
- 11.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 11.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार
- 11.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली
- 11.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
- 11.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त
- 11.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण
- 11.9 इतिहास और परिवर्तन
- 11.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
- 11.11 शासन सम्बन्धी विचार
 - 11.11.1 राज तंत्र
 - 11.11.2 गण तंत्र
- 11.12 राज्य का विस्तार
- 11.13 सर्वशक्तिमान विधायक की अवधारणा
- 11.14 विधि की अवधारणा
- 11.15 सेना का राष्ट्रीयकरण
- 11.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा
- 11.17 अपने युग के शिशु के रूप में मैकियावेली
- 11.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में
- 11.19 सारांश
- 11.20 शब्दावली
- 11.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.24 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

इसकी पूर्व वाली इकाई में बताया जा चुका है कि मध्ययुग की व्यवस्था तथा उसके मूल्यों को समाप्त करने तथा आधुनिक काल का शिलान्यास करने का पूनर्जागरण के बहुआयामी आन्दोलन ने किया था। पूनर्जागरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप यूरोप के जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन आने लगे। साथ ही इटली की सामाजिक और राजनैतिक जीवन भी मैकियावेली के विचार क्षेत्रों को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको मैकियावेली के राजनीतिक विचारों को जानने और समझने में सहायता मिलेगी, और आप यह जान सकेंगे कि देश काल और परिस्थिति किस प्रकार से विचार को प्रभावित करती है। साथ ही जानेंगे कि मैकियावेली ने राजनीतिक उद्देश्य को सिद्धि के लिए किस हद तक नैतिक मानदण्डों की अवहेलना करने तक की भी इजाजत देता है।

अन्ततः हम यह जानेंगे कि मैकियावेली अपने चिन्तन में किस हद तक मध्यकालीन मान्यताओं से अलग हुआ और राजनीति में धर्मनिरपेक्ष को शामिल करने की वकालत की।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य है

1. मैकियावेली के राजनीतिक और सामाजिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है।
2. इटली की दुर्दशा और उसके लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी मानना।
3. आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग।

12.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मैकियावेली 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ऐसे समय में अपने विचारों को प्रस्तुत करता है जब एक ओर मध्ययुगीन व्यवस्था का अन्त और दूसरी ओर नव जागरण काल का उदय हो रहा था। हम जानते हैं कि मध्ययुग के चिन्तन में धर्म, ईश्वर, परलोक पोप को सत्ता, सर्वभौग ईसाई समाज, जैसे प्रश्नों का बोलबाला था। तात्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था सामन्तवादी प्रथा पर टिकी हुई थी। नगरों का स्वरूप भी स्वायत्तशासी था। सामन्तों के आपसी युद्धों के कारण समाज में स्थिरता और शान्ति का अभाव था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक पश्चिमी यूरोप के देशों में निरकुश राजतंत्रीय शासन का अभ्युदय हो गया था। क्योंकि सर्वत्र मध्ययुगीन संस्थाओं का अधोपतन हो रहा था। निरकुश राजाओं ने चर्च के पदाधिकारियों को अपने कानूनी नियंत्रण में ले लिया था। इसी के साथ इस अवधारणा का भी विकास हुआ कि राजा ही राज्य में सम्प्रभु है जो समस्त राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्रोत है।

इन विध्वंसकारी परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मैकियावेली के राजनीतिक सिद्धान्त में अत्यन्त स्पष्टता से होती है। मैकियावेली का राजनैतिक चिन्तन सोलहवीं शताब्दी का दर्पण है जिसमें तत्कालीन समाज की व्यवस्था तथा उसमें आये विध्वंसकारी परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अपने युग की उभरती राजनीतिक प्रवृत्तियों को मैकियावेली ने समझा तथा उन नवीन प्रवृत्तियों को अपनी राजनीतिक चिन्तन में समा लिया। उसके विचार 16वीं शताब्दी में उभरती नवीन प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित हैं।

12.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार

मैकियावेली के काल में इटली की भयंकर दुर्दशा थी। इटली तब पाँच राज्यों नेपल्स, मिलन, वेनिस, फ्लोरेन्स तथा केन्द्र में पोप द्वारा शासित राज्य में विभाजित था। इटली के इन राज्यों की आन्तरिक एवं बाह्य स्थिति शोचनीय थी। स्पेन, जर्मनी और फ्रांस के शासकों का इटली पर समय-समय पर आक्रमण करना, इन राज्यों की आपसी कटुता जिसके लिए विदेशी ताकतों को इटली के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया जाना, इत्यादि कारणों से इटली की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त बुरी थी। मैकियावेली इटली की ऐसी दुर्दशा के लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी मानता है। वह इस बात से दुःखी था कि जब कि यूरोप के अन्य देशों में राष्ट्रीय एकीकरण हो गया किन्तु इटली का एकीकरण नहीं हो रहा है। इस समस्या के लिए वह पोप की नीतियों को जिम्मेदार मानता था। उसका मानना था कि न चर्च न तो स्वयं इतना शक्तिशाली है कि पूरे इटली का एकीकरण कर सके और न वह किसी अन्य सत्ता को ऐसा करने का अवसर देती है। इसलिए इटली किसी एक प्रमुख के अधीन सुदृढ़ राज्य नहीं बन सकता है। सारांश यह है कि तब इटली में ऐसा वातावरण बन

चुका था जहाँ व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं था न न्याय का और न कानून का। इटली के इस प्रकार के पतित जन जीवन एवं भ्रष्ट राजनीतिक जीवन को दृष्टिगत रखकर मैकियावेली अपने विचारों का प्रतिपादन करता है और यह कामना भी करता है कि देश का कोई राजनेता उसके ग्रन्थ 'प्रिंस' का अध्ययन कर देश को सुदृढ़ राज्य बनायेगा।

12.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली

आधुनिक काल में मैकियावेली ऐसी पहला विचारक था जिसने मध्ययुग में प्रचलित निगमात्मक पद्धति का परित्याग किया। उसने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयास किया। समकालीन घटनाओं का तटस्थ दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए उन घटनाओं को प्राचीन इतिहास की घटनाओं के साथ जोड़ते हुए उसने अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। मैकियावेली की धारणा थी कि मनुष्य स्वभाव सदा और सर्वत्र एक जैसा ही है। अतः वर्तमान अथवा भविष्य की समस्याओं को समझने के लिए भूतकाल के इतिहास का सहारा लेना चाहिए। ऐसा करते समय हमें यह समझने का अवसर मिलता है कि प्राचीन काल में अमुक2 परिस्थितियों में कैसी नीतियों का पालन किया गया जिनसे क्या सफलता मिली या असफलता मिली थी। उसकी मान्यता थी कि उन परिणामों के प्रकाश में हम अपनी समकालीन घटनाओं का विवेचन कर अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इसी कारण मैकियावेली को आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने वाला पहला विचारक माना जाता है।

12.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली की मान्यता है कि मनुष्य "सामान्यतः कृतघ्न, स्वार्थी सनकी, धोखेबाज, कायर और लोभी होता है। मनुष्य मात्र का नैसर्गिक गुण उसकी अहंवादी प्रवृत्ति है। अहंवाद एक सार्वभौम मानवीय सत्य है। अपने अहम की रक्षा के लिए मनुष्य दूसरों से उग्रता के साथ प्रतिस्पर्ध करता है। अपने अहम की रक्षार्थ, अर्थात् अपने जीवन अपनी सम्पत्ति तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह औरों से संघर्ष करता है।

यह दृष्टिकोण काल्विन तथा हॉब्स आदि विचारकों से काफी मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाइयों के मनुष्य के पापी होने के समकालीन सिद्धान्त का भी मैकियावेली पर प्रभाव पड़ा। मैकियावेली यह मान कर चलता है कि मनुष्य का अहम तथा उसकी स्वार्थ प्रवृत्तियाँ ऐसी प्रेरणादायी शक्तियाँ हैं जो उसे आगे बढ़ने के लिए विवश करती हैं। मनुष्य आनन्द चाहता है और कष्ट तथा दुख से बचने की बराबर कोशिश करता रहता है। मनुष्य कृतघ्न कायर व लालची होता है। वह अच्छा बनने की तभी कोई कोशिश करता है जब ऐसा करने में उसे कोई लाभ प्रतीत हो।

मैकियावेली का कहना था कि भय मानव जीवन को प्रेम से भी अधिक प्रभावित करता है। इसलिए राजा को प्रजा वत्सल नहीं वरन् ऐसा बनना चाहिए कि लोग उससे बारबार डरते रहें। जब तक वे डरेंगे तभी तक राजा से प्रेम करेंगे और उसके आदेश मानेंगे। परन्तु भय घृणा और अपमान के बीच अत्यन्त सुस्पष्ट रेखा खींचते हुए उसका कहना था कि शासक को चाहिए कि वह अपने कार्यों से प्रजा को भयभीत तो रखे लेकिन ऐसा न कर बैठे कि राज्य का कोई वर्ग उससे घृणा करने लगे तो उसकी मान हानि का प्रयत्न करें।

मानव स्वभाव के विषय में मैकियावेली के उपरोक्त विचार इटली की तत्कालीन स्थिति से प्रभावित हुए थे। परन्तु मैकियावेली के विचारों से अनेक विरोधात्मक प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं।

12.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त

मैकियावेली ही आधुनिक काल का ऐसा विचारक है जिसने राजनीति को धर्म और नैतिकता के सर्वथा पृथक किया है। मैकियावेली के अनुसार, यदि शासक को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यदि अनैतिक साधनों का प्रयोग करना पड़े तो ऐसा करना वांछित है सत्ता प्राप्ति के लिए यदि शासक को हत्या धोखाधड़ी वचन भंग अथवा क्रूरता इत्यादि साधनों का प्रयोग करना पड़े तो शासक को ऐसा करने में नहीं हिचकिचाना चाहिए। एक शासक की सफलता का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होता कि उसने नैतिकता का धार्मिकता का मार्ग अपनाया और जिससे अपनी सत्ता को खो दिया। इससे उसकी असफलता सिद्ध होगी। किन्तु यदि शासक हत्या इत्यादि का सहारा लेकर भी अपने राज्य की रक्षा कर पाता है तो इतिहास उस शासक की सराहना करेगा। नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों का अध्ययन करने से स्पष्ट होगा कि वह नागरिकों के लिए एक प्रकार की नैतिकता का तथा शासकों के लिए दूसरे प्रकार की नैतिकता का मापदण्ड निर्धारित करता है। मैकियावेली का नैतिकता सम्बन्धी दोहरा मापदण्ड है- व्यक्तियों की नैतिकता और शासकों की नैतिकता व्यक्ति के लिए वह नैतिकता को आवश्यक मानता है। किन्तु शासकों के लिए नैतिकता की आवश्यकता नहीं मानता शासकों के लिए उसका मापदण्ड राजनीतिक सफलता है भले ही वह साधन कितने ही अनैतिक क्यों न हों। उसकी मान्यता है कि शासक नैतिकता से ऊपर होता है, नैतिकता के नियमों से शासक बंधा नहीं होता। उसका कथन है कि शासक के लिए विश्वास को निभाना बहुत ही प्रशंसनीय है किन्तु राज्य की सत्ता को बनाये रखने के लिए विश्वासघात और छल अत्यन्त आवश्यक है।

12.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण

धर्म के प्रति भी मैकियावेली का दृष्टिकोण नैतिकता के समान ही है। वह राजनीति को धर्म से पृथक करता है। प्रिंस की अपेक्षा डिस्कोर्सज में मैकियावेली धर्म को राज्य की स्थिरता के लिए उपयोगी

तत्व माना है। मैकियावेली धर्म को राज्य की सुव्यवस्था के साधन के रूप में स्वीकार करता है। धर्म के महत्व को स्वीकार करते हुए मैकियावेली डिस्कोर्सेज में लिखता है जो राजा तथा गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते हैं, उन्हें धार्मिक संस्कारों की शुद्धता को बनाये रखना चाहिए और उनके प्रति उचित भाव रखना चाहिए क्योंकि धर्म हानि होते हुए देखने से बढ़कर किसी देश के विनाश का और कोई लक्षण नहीं होता। इस हद तक मैकियावेली धर्म के महत्व को स्वीकार अवश्य करता है किन्तु जब धर्म राजनीतिक सत्ता के मार्ग में बाधक हो, तब ऐसे धर्म का परित्याग करने का वह समर्थन करता है। स्पष्ट है कि मैकियावेली धर्म और राजनीति के बीच एक विभाजक रेखा निर्धारित करता है।

12.9 इतिहास और परिवर्तन

इतिहास के सम्बन्ध में मत प्रकट करते हुए मैकियावेली परिवर्तन के सिद्धान्त का निरूपण किया है। इतिहास में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। मनुष्य इतना लोभी और वासनामय है कि उसकी इच्छाएं लगातार बढ़ते ही जाती हैं। इनका बढ़ना ही परिवर्तनों का कारण है। इस प्रकार के परिवर्तनों की क्रमबद्ध कथा ही इतिहास है। चूँकि परिवर्तनों का मूल कारण वासनाएँ हैं और इतिहास इन्हीं परिवर्तनों का विवरण है अतः मानव जाति के कृत्यों का इतिहास गौरवमय या उज्ज्वल नहीं है। अपनी बुराईयों के कारण ही मानव जाति दिन प्रति दिन अधिकाधिक अधः पतन के गर्त में गिरती जा रही है। इतिहास की गति मानव जाति के उस अंतिम विनाश और प्रलय की ओर ही इंगित करती है जिसकी ओर वह बढ़ती जा रही है। अतः मैकियावेली इतिहास को मानव जाति के छल कपट और स्वार्थों का लेखा जोखा मानता है। इतिहास चक्रवत् घूमता है। एक अच्छी चीज आती है कालान्तर में वह भ्रष्ट हो जाती है तो उसका स्थान दूसरी वस्तु ले लेती है। इस प्रकार इतिहास का चक्र घुमता रहता है। अरस्तु ने भी लगभग ऐसी ही बात कही थी। उसने राज्यों का जो वर्गीकरण किया था उसमें बतलाया था कि राजतंत्र के बाद अभिजात्यतंत्र और अभिजात्य तंत्र के भ्रष्ट होने के बाद प्रजातन्त्र और फिर राजतंत्र आता है। फिर भी मैकियावेली ने अरस्तु का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार एक आलोचक के शब्दों में उसने बिना कृतज्ञता प्रकट किये चोरी की है।

12.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली राज्य को कृत्रिम संस्था मानता है। मैकियावेली की राज्य की धारणा उसकी मनुष्य सम्बन्धी धारणा से जुड़ी हुई है। मैकियावेली के अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। तथा उसमें वस्तुओं के संग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है। इसी कारण मनुष्यों में प्रतिस्पर्धा रहती है जो समाज में अशान्ति और अव्यवस्था का कारण होती है। मैकियावेली की मान्यता है कि समाज में अशान्ति और अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए राज्य की स्थापना मनुष्यों के द्वारा की गई है। वह कहता

है कि राज्य मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए स्थापित की गयी मानव कृत संस्था है। राज्य आवश्यकता की उपज है नैसर्गिक नहीं मैक्रियावेली का यह भी मत है कि अन्य सामाजिक संगठनों की तुलना में राज्य एक उच्च संस्था है। मैक्रियावेली की राज्य की धारणा की विवेचना करते समय उसकी इस दुर्बलता को भी ध्यान में रखना होगा कि उसने सम्प्रभुता जैसी राज्य की शक्ति का कहीं वर्णन नहीं किया है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उसने जिस तरह से वर्णन किया है उससे केवल इतना ही संकेत मिलता है कि वह सम्प्रभुता की शक्ति को राज्य में निहित मानता है। सम्प्रभुता की वह कहीं व्याख्या नहीं करता। सम्प्रभुता की व्याख्या न करते हुए भी वह राज्य की शक्ति को स्वीकार करता है जिसका प्रयोग राजतंत्र में राजा के द्वारा अथवा गणतंत्र में प्रजा के द्वारा किया जाता है।

12.11 शासन सम्बन्धी विचा

अरस्तू और सिसरो की भाँति मैक्रियावेली भी सरकारों को शुद्ध अशुद्ध इन दो भागों में बाटता है। शुद्ध सरकार के प्रकार है राजतंत्र, कुलीनतंत्र और गणतंत्र, निरकुशतंत्र, धनिकतंत्र और लोकतंत्र क्रमशः इनके विकृत रूप है। स्पष्ट है कि मैक्रियावेली भी अरस्तू का अनुसरण करते हुए सरकारों को शुद्ध और विकृत मानकर उनके छह प्रकारों को मानता है। सिरसो की भाँति मैक्रियावेली भी स्वीकार करता है कि “मिश्रित संविधान” श्रेष्ठ होता है। शासन के 6 प्रकारों को स्वीकार करते हुए भी वह केवल राजतंत्र और गणतंत्र की तथा डिसकोर्सेज में गणतंत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। राजतंत्र और गणतंत्र के सम्बन्ध में मैक्रियावेली के क्या विचार हैं उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

12.11.1 राज तंत्र

राजतंत्र व्यवस्था की मैक्रियावेली प्रिंसिपेलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। मैक्रियावेली ने राजतंत्र के दो स्वरूपों को माना है। पहले प्रकार का वह राजतंत्र है जिसमें कोई राजा दूसरे राज्य को परास्त कर उस पर अपना शासन स्थापित करता है। दूसरा कोटि का राजतंत्र वशांनुगत राजतंत्र है जिसमें अपने पैतृक अधिकार के कारण कोई उत्तराधिकारी राज्य की सत्ता प्राप्त करता है। राजतंत्र का समर्थन मैक्रियावेली ने तत्कालीन इटली की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है। उसके मतानुसार इटली की राजनीतिक अवस्था को सुचारू बनाने के लिए राजतंत्र का समर्थन किया है। मूल रूप से तथा साधारण परिस्थितियों में वह गणतंत्रीय शासन को अच्छा मानता है।

12.11.2 गण तंत्र

मैक्रियावेली डिसकोर्सेज में वह स्वीकार करता है कि गणतंत्र श्रेष्ठ कोटी का शासन है क्योंकि इस व्यवस्था में अनेक गुणों को देखता है। गणतंत्र में जनता की राजनीतिक जीवन में भागीदारी होती है, तथा विधि के माध्यम से शासन संचालित होता है। वह मानता है कि कानून द्वारा शासित राज्य

स्थायी होता है। राज्य में स्थायित्व के लिए वह बल के प्रयोग का समर्थक है फिर भी यदि बल का संयत रूप से प्रयोग किया जाये तो वह उचित है। मैकियावेली व्यक्ति की अनेक स्वतंत्रताओं का समर्थन डिसकोर्सेज में करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की स्वतंत्रता शासकों को चुनने की स्वतंत्रता, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा शासन में सार्वजनिक हित के सुधारों को प्रस्तावित करने की नागरिकों की स्वतंत्रता इत्यादि स्वतंत्रताओं का वह समर्थक है। मैकियावेली यह भी मानता है कि नागरिकों की शासन के कार्यों में भागीदारी होनी चाहिए। उसने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जिस शासन में अधिकांश लोग भागीदार होते हैं वह शासन स्थायी होता है। वह वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा जनता द्वारा चुने हुए राजतंत्र को अच्छा मानता है गणतंत्रीय शासन की अपेक्षा नागरिकों का भ्रष्टाचार रहित मत अधिक प्रभावशाली होता है इन विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होगा कि भले ही प्रिंस में मैकियावेली के प्रतिपादित विचार कितने ही निरंकुशवादी एवं सनकी क्यों न हो डिसकोर्सेज में उसने गणतंत्र एवं उदारवादी शासन का समर्थन किया है।

12.12 राज्य का विस्तार

राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बतलाते हुए मैकियावेली ने बतलाया कि मनुष्य का स्वभाव पारे की भाँति होता है। वह बारबार बढ़ते रहना चाहता है। यदि वैभव और व्यवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव चंचल होता है वह स्थिर नहीं रह सकता अतः ऐसी कोई वस्तु शाश्वत या दीर्घजीवी नहीं हो सकती जो स्थिर रहे। अतः प्रिंस तथा डिसकोर्सेज में मैकियावेली ने यह समझाने की चेष्टा की कि राज्य में अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता है। एक ही राजा के छत्र के नीचे शासितों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। ऐसा उस समय तो बराबर ही होना चाहिए जब केन्द्रीय राजसत्ता को अपनी ही देश के किसी भूभाग को अपने अन्तर्गत लाना हो। उपरोक्त बात मैकियावेली ने इटली की दशा को देखते हुए कहीं थी। राजा को साम, दाम दण्ड और भेद की चारों नीतियों को काम में लाना चाहिए। उसे यदि आवश्यकता पड़े तो सेना का प्रयोग करने से भी नहीं चूकना चाहिए। शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के भूमि भाग को बढ़ाते रहना चाहिए।

12.13 सर्वशक्तिमान विधायक की अवधारणा

आधुनिक भाषा में हम जिसे शासक कहते हैं मैकियावेली उस शासक को विधि दाता के नाम से सम्बोधित करता है। विधि दाता अर्थात् विधायक, पर मैकियावेली की अपूर्व श्रद्धा है। उसका विश्वास है कि किसी सफल राज्य की स्थापना केवल एक व्यक्ति केवल एक सर्वशक्तिमान विधायक द्वारा की जा सकती है। उसकी मान्यतानुसार विधि दाता सर्वशक्तिमान है। विधि दाता द्वारा स्थापित राज्य तथा कानूनों के निर्माण से नागरिकों का चरित्र भी निर्धारित होता है। जैसे विधि दाता के कानून

होंगे वैसा ही चरित्र उसके राज्य के सदस्यों का होगा। विधायक की बुद्धिमता और दूरदृष्टि के सहारे समाज की रक्षा ओर विकास संभव है। जिस तरह राज्य के संचालन हेतु उस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते उसी प्रकार समाज रचना और समाज के विकास कार्य में भी विधि दाता पर किसी प्रकार की सीमाएँ नहीं है। विधि दाता यदि अपने कार्य में दक्ष है तो वह समाज व्यवस्था की रचना और उसके उत्थान के लिए सब कुछ कर सकता है। ऐसा करने में उस पर कोई बन्धन नहीं है। वह पुराने संविधान को बदल सकता है राज्य की पुनर्रचना कर सकता है, आबादी मनचाहे तरीके से स्थानान्तरित कर सकता है नैतिकता के नये मापदंड स्थापित कर सकता है, और शासनतंत्र को परिवर्तित कर नई पद्धतियों की व्यवस्था कर सकता है। मैकियावेली के विधि दाता की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन विचारों में सम्प्रभु की झलक है। आधुनिक काल में हम सम्प्रभुता की जिस धारणा की चर्चा करते हैं मैकियावेली सम्प्रभुता की उस प्रकार की औपचारिक परिभाषा तो प्रस्तुत नहीं कर सका फिर भी उसने राज्यों की सर्वोच्च कानूनी शक्ति के लक्षणों का वर्णन सर्वशक्तिमान विधि दाता की अवधारणा के रूप में किया है। मैकियावेली की इस कमी को हॉब्स ने अपनी सम्प्रभुता की धारणा द्वारा पूरा किया है, मैकियावेली ने सर्वशक्तिमान विधायक के जिन लक्षणों का वर्णन किया है हॉब्स उन्हीं लक्षणों के आधार पर सम्प्रभुता की विधिवत धारणा प्रस्तुत करता है।

12.14 विधि की अवधारणा

मैकियावेली विधानमण्डल को सर्वशक्तिमान मानता है। उसकी इस अवधारणा में विधि की अवधारणा भी सन्निहित है। मैकियावेली ने बतलाया है कि लोग विधि के आदेशों को भय के कारण मानते हैं। मैकियावेली की विधि की परिभाषा बहुत सीमित थी। वह केवल नागरिक विधि के अस्तित्व को ही स्वीकार करता था। उसका कहना था कि विधियाँ शासक द्वारा बनायी जाती हैं अतः उनका स्रोत शासक है। शासक या राज्य की उत्पत्ति के पहले विधियाँ नहीं थीं। अराजकता और विधि व्यवस्था का अभाव पर्यायवाची शब्द है। अराजकता की अवस्था में समाज और राज्य के सारे अंग विश्रंखलित हो जाते हैं। विधि का कार्य इन्हीं विश्रंखलित अंगों के बीच सामंजस्य और समन्वय की स्थापना करना है। मध्य युग के विभिन्न लेखकों की भांति मैकियावेली ने विधि को प्रकृतिक, ईश्वरीय परम्परागत आदि वर्गों में विभक्त नहीं किया। नागरिक विधि की अवधारणा को बतलाने के बाद उसने आगे और कुछ नहीं लिखा। उसका विधि और विधानमण्डल सम्बन्धी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल मानता है।

12.15 सेना का राष्ट्रीयकरण

सेनाओं के सम्बन्ध में भी मैकियावेली के विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उसके समय में तीन प्रकार की सेनाएँ हुआ करती थीं।

1. राष्ट्रीय सेनाएँ
2. राज्यिक सेनाएँ
3. किराये पर लड़ने वाली सेनाएँ

समकालीन इटली में जितनी विदेशी फौज लड़ने वाली थी, वे सब राष्ट्रीय सेनाएँ होती थीं। ये सेनाएँ बहुधा स्पेन, फ्रांस और जर्मनी की होती थीं। इनका मुकाबला इटली की छोटी-छोटी रियासतों की सेनाओं को करना पड़ता था। इन सेनाओं में फूट भी रहती थी। इनके अलावा कुछ सेनाएँ किराये पर भी लड़ा करती थीं। इटली की सामरिक पराजयों के कारणों का निदान करते हुए मैकियावेली ने रियासती सेनाओं और किराये पर लड़ने वाली सेनाओं के बहुत से दोष गिनाये हैं। उसका कहना था कि ऐसी सेनाएँ दबू, कायर, लालची, और महत्वाकांक्षी होती हैं। इसकी प्रेरणा देने वाला लक्ष्य राष्ट्र की सेवा भाव नहीं बल्कि धन होता है। अतएव इस प्रकार की सेनाओं पर भरोसा करके इटली राष्ट्र राज्यों का सामना नहीं कर सकता। यदि इटली को स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तो उसे भी फ्रांस आदि की भांति राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन करना चाहिए और किराये तथा अन्य प्रकार की सेनाओं पर निर्भर रहना चाहिए।

12.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा

आधुनिक युग में मैकियावेली ही ऐसा विचारक था जिसने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु आलोचक ने इस सम्बन्ध में बड़े परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। एलन का कहना है कि मैकियावेली ने यह नहीं बतलाया कि राष्ट्र राज्य में कौन कौन से अंग होते हैं। विचारों की अस्पष्टता मैकियावेली की एक बहुत बड़ी त्रुटि है। एलन के मत के विपरित हरनशाँ का कहना है कि वस्तुतः राष्ट्र राज्य का जनक मैकियावेली ही था। यह बात इस अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि मैकियावेली ने ही सबसे पहले राष्ट्र राज्य की रूपरेखा दी। चाहे वह रूप रेखा अस्पष्ट ही क्यों न थी।

12.17 अपने युग के शिशु के रूप में मैकियावेली

मैकियावेली को प्रो. डर्निंग ने अपने युग का शिशु कहा है। मैकियावेली जिस युग में पैदा हुआ था वह युग पुनर्जागरण का था जिस काल की प्रवृत्तियों का प्रभाव मैकियावेली के चिन्तन पर पड़ा था। 14 वीं शताब्दी से 16 वीं शताब्दी का काल था जिस काल के विचारों ने मध्ययुगीन मान्यताओं को छोड़कर एक बार फिर से यूनानी मान्यताओं को स्वीकार करना आरम्भ किया। यूनानी चिन्तन के

पुनः प्रसार के कारण मध्ययुगीन व्यवस्था टूटने लगीं और मध्ययुगीन चिन्तन बिखरने लगा तथा नवीन बौद्धिक सांस्कृति और राजनीतिक मूल्यों का प्रभाव यूरोप में दिखाई पड़ने लगा। यह काल प्रबुद्धता और बन्धनमुक्ति का काल था। यूनानी चिन्तन के पुनः आविर्भाव के साथ ही मनुष्य समाज, प्रकृति, ईश्वर, कला साहित्य और राजनीति को देखने की नयी कसौटियाँ नये मापदण्डों का आविर्भाव हुआ। समाज की अपेक्षा अब व्यक्ति को महत्व दिया जाने लगा। मानव आबादी दृष्टिकोण के विकास के कारण अब माने जाने लगा कि मनुष्य ही सभी चीजों की कसौटी है। चर्च के नियंत्रण के विरुद्ध भी स्वतंत्रता की भावना का उदय होने लगा। यूरोपीय जगत में पुनर्जागरण की परिणामस्वरूप जिन नये विचारों का और दृष्टिकोण का जन्म हो रहा था। मैकियावेली उन विचारों से प्रभावित था। ये नवीन प्रवृत्तियाँ मैकियावेली के चिन्तन में प्रकट हुईं। इसलिए उसे अपने युग के शिशु के रूप में मान्यता दी जाती है। मैकियावेली अनेक भाँति से अपने युग का प्रतिनिधि विचारक था। यह उसके दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य स्वभाव का चित्रण, अध्ययन की ऐतिहासिक प्रणाली को चुनना, चर्च तथा पोप की सत्ता का खुला विरोध, राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक करना, राष्ट्रीय राज्य की महत्ता को स्वीकार करना, सर्वशक्तिमान विधिदाता की अवधारणा का प्रतिपादन करना राष्ट्रीय सेना का विचार तथा सामन्तवादी वर्ग को राष्ट्रीय एकता में बाधा मानकर उस पर राजा के अंकुश को लगाना इत्यादि उसके ऐसे विचार थे जिन पर अपने युग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पुनर्जागरण युग जो वैचारिक अथवा बौद्धिक प्रवृत्तियाँ थी, मैकियावेली के विचारों में उन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए उसे अपने युग का शिशु कहा गया है।

12.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में

राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैकियावेली को पहला आधुनिक विचारक अथवा आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक कहा गया है। इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

1. मैकियावेली के पहले राजनीति का अध्ययन अनुभवमूल नहीं था। मध्ययुग के प्रायः सभी लेखक स्वयं सिद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर उस आधार पर अपने राजनीतिक विचारों की व्यवस्थाएँ निर्मित करते हुए दिखायी पड़ते हैं। इसकी तुलना में मैकियावेली मध्ययुग की अध्ययन पद्धति को छोड़कर पर्यवेक्षणीय ऐतिहासिक एवं अनुभवमूलक पद्धति का प्रयोग करता है। आधुनिक काल में इस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने वाला मैकियावेली पहला विचारक माना जाता है।
2. मैकियावेली की आधुनिक विचारक मानने के समर्थन में यह कहा जाता है कि उसने राजनीति और नैतिकता को पृथक किया है। मैकियावेली की मान्यता है कि राजनीति का एक स्वतंत्र दायरा है। राजनीति का दायरा सत्ता है। राजनीति का लक्ष्य सत्ता को प्राप्त करना

सत्ता प्राप्त कर उसे दृढ़ बनाना तथा सत्ता का विस्तार करना है। इसकी तुलना में नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के निजी व्यवहार के नैतिक पक्षों से जुड़े निर्णयों से रहता है। इस आधार पर मैकियावेली इस विचार का प्रतिपादन करता है कि राजनीति के उद्देश्य एवं साधन नैतिकता के उद्देश्यों एवं साधनों से सर्वथा पृथक है। राजनीति के क्षेत्र में संलग्न व्यक्तियों, शासकों और राजनीतिज्ञों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे राजनीति में नैतिकता के साधनों का प्रयोग करें। मैकियावेली के लिए साधनों का नैतिक - अनैतिक होना निरर्थक मापदण्ड है। राजनीति को नैतिक और धर्म से पृथक करने के पीछे मैकियावेली का विचार था कि वह राजनीति को मध्ययुगीन बंधनों से मुक्त कर दे। मैकियावेली का यह प्रयास भी उसकी आधुनिक मानसिकता का परिचायक है।

3. मैकियावेली ने प्रिंस से अपेक्षा की कि कोई देशभक्त राजा इटली को राष्ट्रीय राज्य के रूप में संगठित करेगा। मेडीसी परिवार के शासक लॉरेंजो को सम्बोधित करते हुए उसने लिखा था, देखिए इटली की भूमि उस ध्वज के नीचे खड़े होने की बिनती कर रही है जो उसे विजय दिला सके यह मातृभूमि आपके घराने की ओर इस आशा से देख रही है। यदि आप उन आदर्शों का प्रयोग करेंगे जिनकी चर्चा मैंने प्रिंस में की है तो यह कार्य आपके लिए तनिक भी कठिन नहीं होगा। वे साधन दयावान एवं उचित है। जो मातृभूमि का उद्धार करें। मैकियावेली ने राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय सेना की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। राष्ट्रीय एकता का विचार भी मैकियावेली की आधुनिकता का द्योतक है।
4. आधुनिक राज्य की धारणा का प्रतिपादक आधुनिक काल की राजनीतिक व्यवस्था राज्य की धारणा पर आधारित है। मैकियावेली को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने राज्य की धारणा को सर्वप्रथम अर्थ प्रदान किया। राज्य का आधुनिक अर्थ ऐसी राजनीतिक सम्प्रभु शक्ति है जिसमें अपने नागरिकों और क्षेत्रों पर एकाधिकार है तथा जो शक्ति अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी सर्वोच्च एवं निर्बाध है। राज्य की धारणा का इस प्रकार का अर्थ मैकियावेली के ग्रंथों द्वारा ही प्रदान किया गया है। राज्य से जुड़ी हुई सम्प्रभुता की धारणा के लक्षणों की व्याख्या भी मैकियावेली द्वारा सर्वप्रथम की गयी है। राज्य और उसकी सम्प्रभु शक्ति के महत्व को पहचानने वाले विचारकों में मैकियावेली आधुनिक काल का अग्रणी विचारक था।
5. व्यक्ति के आत्महित पर बल मैकियावेली का आधुनिक काल के उन विचारकों में प्रथम स्थान है जिन्होंने व्यक्ति के आत्महित अथवा स्वार्थ को राजनीति का केन्द्र बनाया। मैकियावेली मानता है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी अथवा अहंवादी है इस तथ्य को शासक को पहचानना चाहिए तथा शासन की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए जिससे कि व्यक्ति के आत्म हित को आघात न लगे।

अभ्यास प्रश्न के उत्तर में उपरोक्त का अध्ययन कर लिखिए

प्रश्न 1 दॉ प्रिन्स नामक ग्रन्थ की रचना किसने की ?

प्रश्न 2 मैकियावेली का जन्म किस सन् में हुआ था?

प्रश्न 3 मैकियावेली ने किस अध्ययन प्रणाली को अपनाया था ?

प्रश्न 4 डिस्कोर्सेज में मैकियावेली किस व्यवस्था का समर्थन करता है ?

प्रश्न 5 मैकियावेली राज्य कोसंस्था मानता है।

प्रश्न 6 राजतंत्र व्यवस्था को मैकियावेली के नाम से सम्बोधित करता है।

12.19 सांराश

उक्त ईकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होंगे कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चिंतन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आपने देखा कि मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है। मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण इसलिए प्रस्तुत करता है क्योंकि उसने इटली की दुर्दशा को देखा और उसके लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी माना। वह इटली का एकीकरण करना चाहता है लेकिन चर्च व पोप को उस कार्य लिए अक्षम मानता है। मैकियावेली ने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के प्रयास किया। साथ ही मैकियावेली ने धर्म और नैतिकता का राजनीति से विच्छेद कर अपने विचारों को मध्ययुगीन विचारधारा से सर्वथा भिन्न बना दिया उसने राज्य की रक्षा के लिए नैतिकता तथा धर्म की धारणाओं को ताक पर रख दिया सिसरो की भाँति मैकियावेली भी मिश्रित संविधान को श्रेष्ठ मानता है और गणतन्त्र शासन को श्रेष्ठ मानता है अन्त में मैकियावेली ही इटली में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने वाला पहला विचारक था।

12.20 शब्दावली

गणतन्त्र:- वह शासन प्रणाली जिसमें सत्ता का अन्तिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है। ताकि उसका प्रयोग जन हित को बढ़ावा देने के लिए किया जाए।

आधुनिकीकरण:- वह प्रक्रिया जिसमें कोई समाज परंपरागत मूल्यों और संस्थाओं से आगे बठकर आधुनिक युग के अनुरूप जीवन पद्धति अपना लेता है।

सामन्तवाद:- मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित वह राजनीतिक व्यवस्था जिसके अन्तर्गत राज्य शक्ति स्थानीय जमींदारों मनसबदारों, इत्यादी में बंटी रहती थी। और अपना पर उत्तराधिकार के रूप आधारित थी।

राष्ट्रीयता:- वह स्थिति जिसमें कोई व्यक्ति किसी विशेष राष्ट्र राज्य का सदस्य माना जाता है, चाहे वह स्वयं उस राज्य में जन्मा हो, या उस राज्य से सम्बन्ध रखने वाले परिवार से।

12.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैकियावेली
2. 1469
3. ऐतिहासिक
4. गणराज्य
5. मानव-निर्मित
6. राजनीतिक संगठन

12.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मेहता जीवन- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन
2. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक
3. जैन पुखराज- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

12.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सूद जे0पी0- राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

12.24 निबंधात्मक प्रश्न

1. धर्म व नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों की विवेचना कीजिए ?
2. मैकियावेली आधुनिक युग का प्रथम विचारक क्यों माना जाता है ?
3. मैकियावेली सही अर्थों में अपने युग का शिशु था। समीक्षा कीजिए।
4. मैकियावेली के राज्य और सरकार के सम्बन्ध में विचारों की विवेचना कीजिए।

इकाई-13 :जीन बोदाँ- (1530-1596)

इकाई की संरचना

- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 उद्देश्य
- 13.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ
- 13.4 अध्ययन पद्धति
- 13.5 राज्य सम्बन्धी विचार
- 13.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
- 13.7 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार
 - 12.7.1 संप्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार
- 13.8 जीन बोदाँ का राज्य एवं शासन के सम्बन्ध में विचार
- 13.9 जीन बोदाँ का सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
- 13.10 जीन बोदाँ का क्रान्ति सम्बन्धी विचार
- 13.11 जीन बोदाँ का राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार
- 13.12 जीन बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना
- 13.13 सारांश
- 13.14 शब्दावली
- 13.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 13.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.18 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक जीन बोदाँ का जन्म सन् 1530 में हुआ एवं बोदाँ का स्वर्गवास सन् 1596 में हो गया। बोदाँ के जीवन काल में फ्रांस गृहकलह एवं धर्मयुद्धों में फँसा हुआ था। सन् 1562 से सन् 1598 तक फ्रांस में 9 धर्मयुद्ध हुए थे। बोदाँ के विचार भी अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित थे। बोदाँ के अध्ययन एवं ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था। उसने राजनीति, न्यायशास्त्र, इतिहास, मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म जैसे विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किए तथा कृतियाँ लिखीं। बोदाँ अपने समय का सर्वाधिक मौलिक विचारक था। वह आधुनिक भी था और अनेक बातों में मध्ययुगीन भी। बोदाँ ने राजनीति के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

13.2 उद्देश्य

बोदाँ का उद्देश्य फ्रांस में एकता की पुनर्स्थापना थी। उसने राजनीति के सभी पक्षों से फ्रांस की एकता पर विचार किया जो कि उसकी सार्वभौमिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उसके विचार रूढ़िवादी होते हुए भी पुनरूत्थान की भावना से ओत-प्रोत थे। उसके सिद्धान्तों में एकता और संगठन का प्रत्यक्ष सूत्रपात दिखाई देता है। उसने स्पष्ट रूप से फ्रांस के राजतंत्र का समर्थन किया क्योंकि उसका यह मानना था कि केवल राजतंत्र ही फ्रांस को विनष्ट होने से बचा सकता है और यह कार्य राजा की सर्वोच्चता द्वारा ही हो सकता है। निश्चित रूप से सम्प्रभुता के सिद्धान्त प्रतिपादित करने का श्रेय बोदाँ को ही है।

13.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ

1. रेसपॉन्स (Response)
2. डेमीनोमैनी (Demenomanie)
3. हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres)
4. यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum)
5. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक (Six Livers De-La-Republicue)

13.4 बोदाँ की अध्ययन पद्धति-

बोदाँ का राजनीतिक विचार उसकी पुस्तक 'The Six Books on the Republic or State' से जान सकते हैं उसका दूसरा ग्रन्थ 'A Method for the Easy Understanding of History' भी महत्वपूर्ण है। उसमें उस पद्धति का विवरण है जिसका प्रयोग उसने अपने राजनीतिक विकल्प में किया और जिसे बोदाँ नवीन समझता था। यह पद्धति भी दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण है। बोदाँ के अनुसार कानून के वास्तविक स्वरूप तथा मूल को समझने के लिये न्यायशास्त्री को इतिहासकर से

सहायता लेनी चाहिये और विभिन्न देशों की कानून प्रणालियों का अध्ययन करना चाहिये। उसने अपने राजनीतिक तथा विधि संबन्धित विचारों के प्रतिपादन के लिए ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। इस प्रकार उसे दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण करना चाहिए। बोदाँ के अनुसार मैकियावेली की अध्ययन पद्धति में दर्शन की सर्वथा उपेक्षा के कारण ही शायद वह नीतिशास्त्र तथा राजनीति में विच्छेद किया, क्योंकि उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से अनुभव प्रधान थी; उसे दर्शन द्वारा परिष्कृत नहीं किया गया था। दूसरी ओर बोदाँ ने प्लेटो तथा मोर सरीखे स्वप्नदृष्टाओं (Utopians) की आलोचना इसलिये की क्योंकि उनका दर्शन अयथार्थवादी था क्योंकि उसका आधार ऐतिहासिक तथ्य नहीं था। बोदाँ की धारणा थी कि आदर्श पद्धति में दर्शन और इतिहास दोनों का प्रयोग होना चाहिए। दर्शन इतिहास के तथ्यों के अर्थ प्रदान करता है तथा इतिहास दार्शनिक धारणाओं के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है। “तथ्य ठोस बनाते हैं और विवेक सारगर्भित।” अपनी राजनीतिक मान्यताओं का इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित करके बोदाँ ने अरस्तू की पद्धति को अपनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोदाँ के सामने अपने कार्य का चित्र अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। परन्तु जैसा कि सैबाइन का कहना है, बोदाँ में उस कार्य के सम्पन्न करने की पूर्ण क्षमता न थी; उसके राजनीतिक दर्शन में काफी प्रवंचना पाई जाती है। उसके पास कोई स्पष्ट प्रणाली न थी जिसके द्वारा वह अपनी ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता। बोदाँ का अपनी कृतियों में मुख्य ध्येय इतिहास के लिए सामान्य दर्शन की खोज करना नहीं था, बल्कि केवल उसे सरलतापूर्वक समझने की एक पद्धति का पता लगाना था इसका परिणाम यह हुआ कि उसके ग्रन्थों में पाई जाने वाली अतुल ऐतिहासिक सामग्री में कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। परन्तु यह तो हमें मानना ही चाहिये कि कानून तथा राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिये, बोदाँ का एक बड़ा गुण था। उसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि तथा प्रकृतिक कानून में उसके विश्वास ने उसे मैकियावेली के नैतिक उपरामवाद (Moral Indifferentism) से बचा लिया। बोदाँ तथा मैकियावेली और बोदाँ तथा हॉब्स में यह एक आधारभूत अन्तर है।

अब हम बोदाँ के उस राजनीतिक दर्शन पर आते हैं जो उसकी कृति 'Books Concerning the State' में मिलता है। कई बातों में उसमें राज्य के मूल स्वरूप तथा राजनीतिक आज्ञापालन के विषय में हमें मौलिक विचार मिलते हैं। परन्तु वे पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हैं। सबसे पहले हम अगली इकाई खण्ड में उसके राज्य के मूल तथा सामाजिक आधार पर विवरण देंगे, फिर उसके संप्रभुता के सिद्धान्त तथा अन्य विषयों का उल्लेख करेंगे और अन्त में यह देखेंगे कि राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका क्या स्थान है।

13.5 जीन बोदाँ का राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य के सम्बन्ध में बोदाँ के नवीन सिद्धान्त तथा नवीन मूल्यों को भली प्रकार समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि बोदाँ किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य को लेकर अपनी रचनायें कीं। ज्ञात रहे कि प्रोटेस्टेण्टों तथा कैथोलिकों के बीच धार्मिक संघर्ष ने राज्य की एकता तथा शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने और जन-कल्याण की अभिवृद्धि करने की उसकी क्षमता को बहुत घटा दिया। इस लिये बोदाँ राज्य को धार्मिक विवादों से अलग रखना और यह सिद्ध करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है जो उसके समस्त नागरिकों को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी दिखाना चाहता था कि राज्य का समुचित कार्य सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि करना है, न कि अपने अनुसार सच्चे धर्म को कायम रखना। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने उस सिद्धान्त को जो कि राज्य को एक दैविक संस्था समझता है और उस सिद्धान्त का जो कि शासन की जन-इच्छा के ऊपर आधारित करता है, खण्डन करना पड़ा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी तथा स्कॉटिश काल्विनवादी अन्तःकरण के नाम पर राज्य की शक्ति की अवज्ञा करते थे और व्यक्ति को राज्य से कहीं अधिक महत्ता देते थे। राजनीतिक शक्ति के प्रति काल्विनवादियों का यह दृष्टिकोण बोदाँ के उद्देश्य से ताल नहीं खा सकता था। बोदाँ का उद्देश्य राज्य के प्राधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की रक्षा करना नहीं। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति बोदाँ ने राज्य की यह परिभाषा देकर की कि “राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसके ऊपर सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक का शासन है। यह परिभाषा ‘सिक्स बुक्स कन्सर्निंग दि रिपब्लिक के लैटिन अनुवाद में जिसे ‘डि रिपब्लिक लिब्रीसिक्स’ या केवल ‘डि रिपब्लिक’ के नाम से ही जानी जाती है में दी गयी है।

उपरोक्त परिभाषा से प्रथमतया जो दर्शित होता है वह यह है कि बोदाँ राज्य को परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का समुदाय बतलाता है, व्यक्तियों का नहीं। व्यक्ति का सम्बन्ध राज्य से परिवार तथा मजदूर संघ सरीखे अन्य समूहों की सदस्यता द्वारा है। बोदाँ के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति का व्यक्ति के नाते अधिक महत्व नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि अरस्तू का अनुकरण करते हुए बोदाँ राज्य को परिवारों का समुदाय बतलाता है। किन्तु उसे वह परिवार का स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं मानता जैसा कि महान यूनानी दार्शनिक मानता था, उसके अनुसार राज्य शक्ति की उपज है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो सूत्र व्यक्तियों को परिवार, व्यापार संघ अथवा धार्मिक संघ जैसे समुदायों में बाँधता है वह उससे कहीं भिन्न है जो कि व्यक्तियों को राज्य के सदस्यों के रूप में एकबद्ध करता है। कुटुम्ब इत्यादि समुदायों में इस

सम्बन्ध का आधार रक्त, मित्रता अथवा पारस्परिक समझौता हो सकता है किन्तु राज्य में यह बन्धन शक्ति का है।

ऐसा लगता है कि बोदाँ का यह मानना था कि वह एक परिवार जिससे मानव जाति का प्रारम्भ हुआ आगे चलकर प्रकृतिक कारणों से कई परिवारों में विभक्त हो गया। समुचित स्थानों पर उन्होंने अपने घर बसा लिये। सामान्य लाभ और हित के लिए एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक होती है, इसी प्रवृत्ति के कारण बहुत से परिवार एक ऐसे स्थान पर बस गये जहाँ उन्होंने जल, रक्षा इत्यादि के दृष्टिकोण से दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझा। ऐसे अच्छे स्थानों की संख्या सीमित थी। इसलिए परिवार उन पर अधिकार जमाने के लिए आपस में लड़ने लगे। उस संघर्ष में सबल की विजय हुई, निर्बल परास्त हो गये। विजेताओं ने पराजितों पर अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित करना चाहा और उस प्रक्रिया में वे स्वयं उन सरदारों की अधीनता में आ गये जिन्होंने कि लड़ाई में उनका नेतृत्व किया। इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। मानव इतिहास में इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि शक्ति को राज्य के जन्म का मुख्य आधार समझने में सत्य का काफी अंश है। राज्य के विकास में शक्ति चाहे एकमात्र या मुख्य साधन न रही हो, किन्तु एक महत्वपूर्ण साधन वह अवश्य रही है। सामाजिक शक्तियों का बोदाँ एक तीक्ष्ण विश्लेषणकर्ता था।

बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा में तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन होता है। सर्वोच्च शक्ति राज्य का सार है, यह राज्य को अन्य समुदायों से अलग करती है। इसे खो देने पर राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। राज्य की इस सर्वोच्च शक्ति को बोदाँ सम्प्रभुता कह कर पुकारता है। सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन को बोदाँ की सबसे बड़ी देन समझी जाती है। उसके मत का सार है कि कानूनों को बनाने तथा उन्हें लागू करने की राज्य की शक्ति ही सम्प्रभुता है।

चौथी बात यह है कि बोदाँ के अनुसार राज्य के निर्देशन में विवेक का भी बड़ा हाथ होता है। यह एक महत्वपूर्ण विचार है। उसका अर्थ यह है कि राज्य में सर्वोच्च शासन अधिकार को जो चीज न्यायसंगत बनाती है वह है उसका विवेकसम्मत होना। राज्य और लुटेरों के एक गिरोह में भेद करने वाली इसके अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं है। विवेक के कानून से बोदाँ का अर्थ कदाचित प्रकृति के कानून से था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि वह राज्य का मूल शक्ति में देखता था किन्तु उसके अनुसार शक्ति स्वयं अपना औचित्य नहीं है। राज्य बन जाने के पश्चात शक्ति उसका आधारभूत गुण नहीं रह जाता। अपने आपको न्यायसंगत बनाने के लिए सम्प्रभु को विवेक तथा नैतिक नियन्त्रण के अधीन रहना चाहिए। इस प्रकार बोदाँ ने उस रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न किया जो कि दैविक अधिकार सिद्धान्त के तिरस्कार से उत्पन्न हो गया था।

13.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार

बोदाँ की नागरिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों में स्पष्ट आधुनिक तत्व मिलते हैं। आरम्भ में ही हमें बोदाँ की प्रणाली में एक ऐसी कठिनाई मिलती है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। उसके लिये राज्य का प्रारम्भिक तत्व परिवार है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति राज्य में अपनी भूमिका आधारभूत सामाजिक समुदायों की अपनी सदस्यता द्वारा अदा करता है। इस कठिनाई को बोदाँ यह कहकर दूर करता है कि परिवार का प्रधान नागरिक का परिधान केवल तभी धारण करता है जबकि वह घरेलू कर्तव्यों को छोड़ता है और सार्वजनिक कार्यों को करने के लिये अन्य परिवारों के प्रधानों से मिलने के लिए घर के बाहर निकलता है जो चीज उसे नागरिक बनाती है वह उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं है जो कि प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिकता की धारणा से सामान्यतया सम्बद्ध थे और जो आज भी इस शब्द के अर्थ का एक भाग है, बल्कि वह है उसका राज्य की सम्प्रभुता की अधीनता स्वीकार करना। उसके अनुसार नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभुशक्ति के अधीन है। नागरिकता की इस प्रचलित परिभाषा में कि 'नागरिकता राज्य के प्रति शक्ति है' बोदाँ के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

13.7 संप्रभुता (Sovereignty) सम्बन्धी विचार

संप्रभुता का सिद्धान्त जो कि उसके राजनीतिक दर्शन का सबसे अधिक आधारभूत अंग तथा आधुनिक राजनीतिक विचार को उसकी मौलिक देन है। उससे पूर्व किसी भी राजनीतिक विचारक ने संप्रभुता की धारणा का प्रतिपादन नहीं किया। अरस्तु ने जिस सर्वोच्च शक्ति का उल्लेख किया है, उसे बोदाँ द्वारा प्रतिपादित संप्रभुता के विचार के अनुरूप समझा जा सकता है, वह कानून द्वारा परिमित थी जिसका स्रोत विवेक है। मध्य युग की परिस्थितियाँ इस धारणा के विकास के लिये अनुकूल न थीं। सम्राट की शक्ति एक ओर तो सामन्त सरदारों के अधिकारों द्वारा और दूसरी ओर पोप के श्रेष्ठतर शक्ति के दावों द्वारा सीमित थी। 16वीं शताब्दी में स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई थी। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस सरीखे राष्ट्र-राज्यों के राजाओं ने अभूतपूर्व एकबद्धता तथा केन्द्रीकरण प्राप्त कर लिया और अपने आपको पोप के नियन्त्रण से मुक्त कर लिया था। निःसन्देह यह सत्य है कि पवित्र रोमन सम्राट का अस्तित्व उस समय था और वह साम्राज्य के ऊपर नाममात्र का अधिकार जताता था। परन्तु बोदाँ के लिये उसका कोई महत्व न था उसके लिये फ्रांस का राजा हेनरी तृतीय ही सब कुछ था। अपने संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बोदाँ उस प्रवृत्ति का सैद्धान्तिक औचित्य सिद्ध कर रहा था जो कि पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र प्रधान हो उठी थी। फ्रांस, ब्रिटेन तथा स्पेन के राजा बोदाँ के मुख से यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए होंगे कि 'समस्त व्यक्तियों तथा समस्त विषयों' पर उनका नियन्त्रण करने का प्रयत्न संप्रभुता के उन अदेय अधिकारों का ही प्रयोग था जो कि प्रत्येक राज्य में स्वाभाविक रूप से शामिल रहते हैं।

बोदाँ के अनुसार सम्प्रभुता एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थायी शक्ति है। वह नागरिक तथा प्रजाजन के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कानून की कोई सीमायें नहीं हैं। इन शब्दों में बोदाँ का क्या तात्पर्य था, वह समझना आवश्यक है। यह कहकर कि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले समस्त नागरिकों तथा प्रजाजन पर निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति रखता है। बोदाँ दो उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम, वह पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट सरीखी किसी भी वाह्य सत्ता के राज्य के लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार करने के दावे को निश्चित रूप से ठुकराता था। यह सम्प्रभुता का वाह्य स्वरूप था। दूसरे, उसने सामन्त सरदारों, नगरों तथा निगमों के किसी भी अदेय अधिकार को मानने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार वे सब साधारण नागरिकों के सदृश राजा की शक्ति के अधीन थे। उन्हें ऐसे अधिकार देना, जिनसे राजा भी उन्हें वंचित न कर सके, राज्य की सम्प्रभुता की निरपेक्षता को कम करना था। इसे हम सम्प्रभुता का आन्तरिक स्वरूप कह सकते हैं।

सम्प्रभुता को स्थायी बताकर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय-विशेष से सीमित नहीं है। उसके अनुसार वह राजा जो कि अपने जीवन-पर्यन्त निरंकुश शक्तियों का उपभोग करता है, बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ताधारी है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह ईश्वर को छोड़कर किसी को भी अपने से बड़ा नहीं समझता।

अन्तिम बात यह है कि बोदाँ के अनुसार 'सम्प्रभुता पर कानून की कोई सीमायें नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह जो कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है स्वयं उन कानूनों से बाधित नहीं होता जिन्हें वह जनता के लिये बनाता है, वह कानून के ऊपर होता है। यदि शासक कानूनों से बाधित है तो फिर वह निरंकुश और सर्वोच्च कहाँ रहा? सचमुच निरंकुश तथा सर्वोच्च होने के लिये उसे कानूनों के ऊपर होना चाहिये। परन्तु बोदाँ एक क्षण के लिये भी यह नहीं सोचता कि राजा की सम्प्रभुता समस्त कानूनों से ऊपर है। वह केवल अपने बनाये हुए कानूनों के ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों के नहीं। 'समस्त शासक दैविक कानून, प्रकृतिक कानून तथा इनसे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य कानून से बाधित है। उसके यह मानने से कि सम्प्रभुता दैविक तथा प्रकृतिक कानून द्वारा सीमित है बोदाँ के सिद्धान्त में एक ऐसा तत्व आ जाता है जो उसे हॉब्स से एकदम भिन्न कर देता है, जिसका सिद्धान्त अन्य बातों में उसके बहुत निकट है। इससे प्रकट है कि वह अब भी 'उस महान मध्यकालीन परम्परा के निकट था जो कि राज्य तथा उसके कानूनों को न्यूनाधिक उस पूर्ण न्याय, शुभ, तथा सत्य के प्रतिबिम्ब के रूप में देखती थी जो कि प्रभु की नैतिक व्यवस्था में अभिव्यक्त होते हैं।

उपरोक्त जो भी कहा गया है उससे हम सम्प्रभुता की एक दूसरी विशेषता पर पहुँचते हैं। वह है नागरिकों की व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से कानून बनाने की शक्ति जिसके लिये किसी श्रेष्ठतर, हीनतर तथा समान श्रेणी वाले की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। सम्प्रभुता ही कानूनों का

एकमात्र स्रोत है जिसके द्वारा समाज के व्यापार, शासित तथा विनियमित होते हैं। बोदाँ के सिद्धान्त का यह एक आवश्यक तत्व है कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह होना चाहिये जो कि उसकी विधायनी क्रियाओं के ऊपर पूर्ण अधिकार रखता हो। अपने विधि-निर्माण के अधिकार के प्रयोग करने में प्रभुसत्ताधारी शासक को संसद सरीखे हीनतर अभिकरण के परामर्श को मानना आवश्यक नहीं है, उसके ऊपर कोई ऐसी उच्चतर शक्ति नहीं है जिसकी अनुमति उसके लिये आवश्यक हो या जो उसके बनाये हुये कानूनों को रद्द कर सके। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अमुक राज्य में सम्प्रभुता का निर्माण कहाँ है तो बोदाँ के अनुसार हमें यह पता लगाना चाहिये कि उसमें विधि-निर्माण करने की अन्तिम शक्ति कहाँ है।

बोदाँ के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विषय में भ्रान्त धारणा से बचने के लिये हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि बोदाँ के अनुसार सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग विवेक के अनुसार होना चाहिए। बोदाँ- लुटेरों के एक गिरोह की निरंकुशता तथा सम्प्रभुता के बीच बड़ा भेद करता है। अपने शासन-कार्य के लिये शासक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु किसी मानवी शक्ति के प्रति नहीं। प्रकृतिक या दैविक उच्चतर कानून का हॉब्स की कृतियों में कोई स्थान नहीं है। राज्य का प्रधान होने के नाते प्रभुताधारी में अन्य गुण होते हैं, जैसे कि युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, न्याय-रक्षकों को नियुक्त करने, मुद्रा बनाने, अपराधियों को क्षमा प्रदान करने तथा कर लगाने के अधिकार।

इस प्रकार बोदाँ की सम्प्रभुता कोई अमूर्त अथवा अगम्य चीज नहीं रह जाती। यह एक साकार चीज है जिसकी परिभाषा की जा सकती है और जिसे व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है। यह राज्य को समाज को शासित करने वाले कानूनों को बनाने की वैधानिक क्षमता है जो प्रत्येक राज्य में रहती है। यह सम्पूर्ण समाज में सामूहिक रूप से वर्तमान रह सकती है और उसी के द्वारा इसका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्य पूर्णरूपेण लोकतन्त्री होगा अथवा इसका स्वामित्व एक व्यक्ति में हो सकता है और वह वंशानुगत रूपसे उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो सकती है। ऐसी दशा में राज्य वंशानुगत राजतन्त्र हो जायेगा। किन्तु राज्य चाहे राजतन्त्री हो, कुलीनतन्त्र हो या लोकतन्त्री हो, उसमें प्रभुसत्ता जरूर होगी जो समस्त कानूनों का स्रोत है और जो स्वयं अपने बनाये हुये कानूनों से बाध्य नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार उन कानूनों को बदल सकती है, उन्हें रद्द कर सकती है। यह सर्वोच्च सत्ता अविभाज्य और अदेय है। हथियाने (Prescription) का नियम भी उस पर लागू नहीं होता। समाज की इच्छा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होने के नाते यह अविभाज्य है, एक राज्य में दो या अधिक प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकते। यह अदेय है क्योंकि इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है। अप्रयोग द्वारा यह भी नष्ट नहीं होती।

यह निरपेक्ष तथा सर्वोच्च शक्ति राज्य में स्वभावतः पाई जाती है। यह समाज की अपने हितों के लिए अपने सदस्यों के ऊपर अपनी इच्छा का प्रयोग करने की शक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसे

ईश्वर ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य को दिया है। सारांश यह है कि सम्प्रभुता मूल रूप से मानव इच्छा की अभिव्यंजना है। समाज के बाहर इसका कोई स्रोत नहीं है।

13.7.1 सम्प्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार-

1. ईश्वरीय कानून की सर्वोच्चता

बोदाँ इस बात के ऊपर बहुत जोर देता है कि सम्प्रभुता निरंकुश तथा अपरिमित है फिर भी वह मानता है कि उसकी कुछ सीमारयें भी हैं। बोदाँ स्वीकार करता है कि सर्वोपरि कानून ऐसा है जिसके अधीन समस्त शासक होते हैं। वह है ईश्वरीय कानून प्रकृतिक कानून को इसी का एक अंग कहा जा सकता है। यह कानून सदाचार के कुछ अपरिवर्तनीय मापदण्ड निर्धारित करता है, जिनके अनुसार शासक को सदैव चलना चाहिए। इन्हीं मापदण्डों का अनुसरण करना एक राजा की शक्ति को वैध बनाता है। ईश्वरीय कानून, प्रकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा लगाई गई सम्प्रभुता के ऊपर सीमाओं का यही सच्चा अर्थ है। किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वयं शासक को है, उसे शासक के ऊपर लागू करने के समुचित साधन नागरिकों के पास नहीं है। इसलिये ऐसे कानून द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का कोई वैधानिक या राजनीतिक महत्त्व नहीं है। वे नैतिक हैं और इसीलिये स्वेच्छापूर्ण लगाए हुए हैं। स्वेच्छापूर्ण लगाये हुये प्रतिबन्धों को पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह स्वीकार कर लेने से कि सम्प्रभुता ईश्वरीय कानून या प्रकृतिक कानून के अधीन है उसके निरंकुश तथा अपरिमित होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो कि बोदाँ के विचार में उसका सबसे प्रमुख तत्व है।

किन्तु यथार्थ जगत में अधिकतर शासक ऐसे नहीं होते जैसे कि होने चाहिए। उनके बनाये हुए कानून सदैव उस उच्चतर ईश्वरीय कानून के अनुकूल नहीं होते जो कि विश्व में प्रत्येक चीज के ऊपर नियन्त्रण रखता है और जो मनुष्य को शुभाशुभ का ज्ञान प्रदान करता है। तब ऐसी स्थिति में जबकि शासक द्वारा बनाये हुए कानून और प्रकृतिक कानून में संघर्ष हो तो क्या होगा? क्या न्यायरक्षक को सम्प्रभु द्वारा बनाये गये कानून को लागू करने से इन्कार कर देना चाहिए? क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करनी चाहिए। बोदाँ ने इन प्रश्नों का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया, उसने ऐसी स्थितियों को केवल लघुत्तम सीमाओं के अन्दर बन्द कर दिया है किन्तु ऐसा करने से विडम्बना तो दूर नहीं हो जाती, वह तो बनी ही रहती है। “कानून सम्प्रभु की इच्छा है और साथ ही साथ शाश्वत न्याय की अभिव्यंजना भी, तथापित दोनों में संघर्ष हो सकता है।

2. सांविधानिक कानून की प्रधानता

बोदाँ का कहना है कि राजा को राज्य के सांविधानिक कानून के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्रांस के राजा सिंहासन के उत्तराधिकार के कानून को नहीं बदल

सकते थे जो कि सैलिक कानून (Salic Law) के अधीन था। वह कानून यह था कि ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलना चाहिए। पुत्रियां उत्तराधिकार से सर्वथा वंचित थीं। राजसत्ता के ऊपर इस प्रतिबन्ध के औचित्य को सिद्ध करना पहले प्रतिबन्ध से कहीं अधिक कठिन है। बोर्दाँ ने इस प्रतिबन्ध को इसलिये स्वीकार कर लिया क्योंकि उस युग में प्रचलित कानूनी मत यह था कि राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें राजसत्ताधारी नहीं बदल सकता। स्वभाव से तथा कानूनी शिक्षा-दीक्षा के कारण वह संविधानवादी था, इसलिए वह राज्य की प्राचीन संस्थाओं को बनाये रखना चाहता था। परन्तु यदि शासक सचमुच सर्वोच्च है, यदि राजनीतिक समाज का शासक तथा प्रजा के सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं हो सकता तो समझ में नहीं आता कि शासक को उन कानूनों को बदलने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए जिनके बनाने में उसका कोई हाथ न था। आगे चलकर हॉब्स ने ऐसा तर्क किया है इसके विपरीत, यदि राज्य एक ऐसा राजनीतिक समाज है जिसका अपना संविधान है और जिसके अपने कानून हैं जिन्हें शासक नहीं बदल सकता तो राजसत्ता तथा राजा को हमें एकरूप नहीं समझना चाहिए जैसा कि बोर्दाँ समझता था। इस प्रकार सांविधानिक कानूनों के इस बाध्यकारी स्वभाव को स्वीकार करने के बोर्दाँ के सिद्धान्त में एक दूसरी कठिनाई उत्पन्न हो गई।

3. निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता

सम्प्रभुता के ऊपर तीसरा प्रतिबन्ध है निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता। बोर्दाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र समझता था, उसका विश्वास था कि शासक सम्पत्ति को उसके स्वामी की इच्छा के बिना नहीं छू सकता। तात्पर्य यह है कि साधारण समय में बिना सहमति के राजा को प्रजा के ऊपर प्रत्यक्ष कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। एक ओर तो यह मानना कि राजा को मनमाने कानून बनाने का अधिकार है और दूसरी ओर यह कहना कि उसकी कर लगाने की शक्ति बहुत सीमित है, ये दोनों धारणायें एक दूसरे के साथ संगतिबद्ध नहीं हो सकती। यह कहना कि शासक की कर लगाने की शक्ति सीमित है, स्वयं अपना ही विरोध करना है। इस सम्बन्ध में हमें बोर्दाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा को याद रखना चाहिये कि राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है। जिन इकाइयों से मिलकर राज्य बना है वे अपनी सम्पत्ति सहित परिवार है। इस प्रकार बोर्दाँ की प्रणाली में सम्पत्ति के अधिकार एक आधारभूत महत्व रखते हैं। यही कारण है कि बोर्दाँ सम्पत्ति को सम्प्रभुता के ऊपर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध समझता है।

यह स्वीकार करने से निजी सम्पत्ति का अधिकार आधुनिक कानून तथा प्रकृतिक कानून शासक की निरपेक्ष शक्ति को सीमित करते हैं। एक आधारभूत प्रश्न खड़ा होता है, यदि शासक इन सीमाओं का उल्लंघन करे तो क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करने का अधिकार है? उस युग के इस प्रमुख प्रश्न का बोर्दाँ ने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्रोह को उचित नहीं समझता

था। शायद उसका विचार यह था कि जैसे जैसे सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे वे प्रकृतिक कानून के अधिकाधिक अनुकूल होते जायेंगे जो कि उनके अनुसार कोई जटिल और कठोर विधि नहीं थी बल्कि अत्यन्त लचीली थी, नागरिकों का विद्रोह करना आवश्यक नहीं।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला और उसका विश्लेषण करने वाला बोदाँ सर्वप्रथम राजनीतिक दार्शनिक था। इसलिए यदि उसकी इस आधारभूत धारणा की विवेचना में कुछ असंगतियाँ आ गई हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उसका यह आग्रह ठीक ही है कि सम्प्रभुता को निरंकुश तथा अपरिमित होना चाहिए, परन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि यदि राज्य के उद्देश्य को समुचित रूप से पूरा करना है तो राजसत्ता के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगने चाहिये। दूसरे शब्दों में, उसके विचार की प्रवृत्ति यह थी कि राज्य की निरंकुश राजसत्ता तथा राज्य के प्रधान की सीमित शक्तियों में और प्रभुसत्ताधारी क्राउन (Crown) रूपी संस्था में तथा उसे वहन करने वाले सीमित शक्तियों वाले राजा में भेद है। वह इस महत्वपूर्ण विभेद पर इसलिए नहीं पहुँच सका क्योंकि राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासन की प्रभुसत्ता को एकरूप मान लेने में उसने बहुत जल्दबाजी से काम लिया।

13.8 राज्य एवं सरकार सम्बन्धी विचार

राज्य तथा सरकार में बोदाँ विभेद करता है। उसका विचार था कि इस विभेद के न करने के कारण ही अरस्तु तथा अन्य विचारकों के सिद्धान्तों में कुछ दोष आ गये हैं। उसने कहा कि राज्य तथा सरकार दोनों के कई रूप हैं। राज्य का रूप सम्प्रभुता के निवास स्थान से निर्धारित होता है। सरकार का रूप इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि सम्प्रभुता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि किसी राज्य में सम्प्रभुता एक व्यक्ति में है तो वह राजतन्त्र है यदि वह कुछ व्यक्तियों में है तो वह कुलीनतन्त्र है व समस्त जनसाधारण में है तो वह लोकतन्त्र है। सम्प्रभुता को राज्य के विभिन्न तत्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता, इसलिये बोदाँ मिश्रित राज्य की धारणा को स्वीकार नहीं करता। उसका यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि सरकार का रूप राज्य के रूप के ऊपर निर्भर नहीं करता। एक राजतन्त्री राज्य में एक कुलीनतन्त्री अथवा लोकतन्त्री सरकार का होना नितान्त सम्भव है। कुलीनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद एक छोटे से वर्ग के सदस्यों का ही प्रदान किये जाते हैं और सर्वसाधारण को उनमें वंचित रखा जाता है। जनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद बिना वर्गगत भेदभाव के गुण के आधार पर प्रदान किये जाते हैं। इस कसौटी के अनुसार ब्रिटेन की सरकार गत शताब्दी के मध्य तक कुलीनतन्त्री थी और आज वह जनतन्त्री है। संसद द्वारा प्रभुत्व प्राप्त करने से पूर्व इंग्लैण्ड एक राजतन्त्री राज्य था, आज वह जनतन्त्री है।

राज्य के तीन रूपों राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र में से बोदाँ राजतन्त्र को, विशेष रूप से फ्रांसीसी ढर्रे के राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ समझता था। क्योंकि उसके अनुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिकों अथवा समस्त नागरिकों को सौंप देने से अराजकता आ जाने तथा प्रजा के नष्ट हो जाने का भय है। राजतन्त्र के इस मूल्यांकन को समझने के लिये हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बोदाँ ने यह 16वीं शताब्दी के फ्रांस की परिस्थितियों में अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये थे।

13.9 सहिष्णुता सम्बन्धी विचार

सहिष्णुता वह विचार है जिसके लिए बोदाँ सुविख्यात है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रचार उस समय किया जबकि धार्मिक दमन अपनी चरम सीमा पर था और कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। परन्तु सहिष्णुता को उसने एक नीति के रूप में अपनाया, सिद्धान्त के रूप में नहीं। एक ऐसे राज्य में, जहाँ की कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों की बड़ी-बड़ी संख्यायें हों, सरकार की ओर से सम्पूर्ण समाज पर एक ही धर्म को लादने का परिणाम घातक होगा, उसमें गृह-युद्ध छिड़ेगा और राज्य दुर्बल हो जायेगा। इस संकट से बचने के लिये यही उचित है कि राज्य धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं को सहन करें। परन्तु बोदाँ राज्य में नागरिकों को सहन करने के लिये तैयार नहीं, क्योंकि उसके मतानुसार वे अच्छे नागरिक बन ही नहीं सकते। वह यह भी चाहता है कि राज्य नये-नये सम्प्रदायों को न पनपने दें क्योंकि उनसे सामाजिक अव्यवस्था फैल सकती है। इस प्रकार बोदाँ की सहिष्णुता पर बहुत सी सीमारयें थीं। जहाँ धार्मिक दमन में सफलता मिलने की बड़ी आशा है, वहाँ वह उसकी अनुमति दे देता है।

13.10 क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अपनी कृतियों में क्रान्ति के विषय में भी बोदाँ विचार व्यक्त करते हैं जो कि अरस्तु के प्रभाव का संकेत करता है। किन्तु वह उससे काफी आगे जाता है। बोदाँ का आरम्भ बिन्दु यह विश्वास है कि मानव प्राणियों की भाँति राज्यों में परिवर्तन होते हैं। वे बढ़ते हैं, परिपक्व होते हैं, क्षीण होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। ये परिवर्तन अपरिहार्य है। इसलिये एक बुद्धिमान शासक को उन्हें केवल नियमित करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें रोकने का नहीं। ये परिवर्तन धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्वक हो सकते हैं अथवा अकस्मात् और हिंसात्मक हो सकते हैं। उनका प्रभाव कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर पड़ सकता है या उससे भी आगे चलकर सम्प्रभुता के निवास स्थान को ही बदल सकता है। बोदाँ के अनुसार केवल उसी परिवर्तन को क्रान्ति कहा जा सकता है जिसके द्वारा राज्य का स्वरूप ही बदल जाता है जैसे कि राजतन्त्र का कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र हो जाना या उसके विपरीत हो जाना। क्रान्तियों के वह तीन प्रकार के कारण बतलाता है- दैविक, प्रकृतिक तथा मानवीय। दैविक कारण सदा अदृश्य तथा अज्ञात रहते हैं। प्रकृतिक कारणों का जिनमें कि नक्षत्रों का प्रभाव भी सम्मिलित है हम पता लगा सकते हैं। किन्तु मानवीय कारणों के विश्लेषण में ही बोदाँ

ने राजनीतिक चातुर्य का परिचय दिया है। इनकी रोकथाम के प्रसंग में उसने शासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है। उसने इस बात के बड़े मूल्यवान सुझाव दिये हैं कि नागरिकों के साथ सम्बन्ध में, अंगरक्षकों की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय में तथा अन्य बहुत सी बातों में शासक को कैसा आचरण करना चाहिए। वाद-विवाद की असीम स्वतन्त्रता तथा शस्त्र रखने का अधिकार उसे पसन्द नहीं। इसी प्रसंग में वह भौतिक परिवेश तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उपरोक्त के जनता की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर प्रभाव के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। क्रान्तियों के कारणों के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि बोदाँ कोई समतावादी नहीं था, तथापि धनसम्बन्धी गहरी विषमताओं को वह राज्य के अन्दर विद्रोह का एक प्रमुख कारण समझता था। बोदाँ ने यह भी कहा कि शासक को कानून में बहुत जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े परिवर्तन नहीं करने चाहिये क्योंकि कानून में अत्यधिक हेर-फेर करने से क्रान्ति हो सकती है। बोदाँ के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी करते हुए मैक्सी ने कहा कि वह वास्तव में अनेक आधुनिक विचारकों से कहीं अधिक आधुनिक था।

13.11 राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार

इकाई के अन्तिम पड़ाव पर बोदाँ के एक अन्य महत्वपूर्ण विचार का उल्लेख करेंगे। वह विषय है: प्रजा को दिये हुए वचन तथा सन्धियों का शासक को कहाँ तक पालन करना चाहिए? इस विषय का महत्व इसलिए है क्योंकि राजनीति तथा नीति के पारस्परिक सम्बन्ध पर इसका प्रभाव पड़ता है।

बोदाँ का कहना है कि शासक अपनी ली हुई शपथ तथा किये गये वादों से बाध्य नहीं है क्योंकि राजसत्ता को शपथ तथा वचन से परिमित नहीं किया जा सकता। परन्तु संविदा की बात दूसरी है। संविदा दो पक्षों के मध्य एक समझौता है और वह दोनों के लिये बाध्यकारी है। प्रकृतिक कानून का यह एक आदेश है कि संविदा का पालन होना चाहिए। इसलिये शासक को संविदा का पालन करना चाहिए। कानून राजसत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है किन्तु संविदा नहीं। इसी प्रकार वह मैकियावेली की इस धारणा का विरोध करता है कि शासक को दूसरे शासकों के साथ की हुई सन्धियों के पालन करने की आवश्यकता नहीं, यदि वे उसके हितों के विरुद्ध हों। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में शासकों के आचरण को संयत रखने की आवश्यकता को वह स्वीकार करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि मैकियावेली राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करने का आग्रह करता था तो बोदाँ उन दोनों को मिलाने के लिए उतना ही संकल्पबद्ध था।

13.12 बोदाँ तथा मैकियावेली आधुनिकता के अग्रदूत-एक तुलना

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मैकियावेली व बोदाँ दोनों को ही आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु बोदाँ ने मैकियावेली के अनेक विचारों को विकसित किया, इस कारण वह उससे अधिक आधुनिक माना जाना चाहिए।

मैकियावेली ने मध्य युग की अनेक मान्यताओं और परम्पराओं का खण्डन किया। उसने राजनीति को व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया। आधुनिक युग की अनेक मान्यताएँ व सिद्धान्त आज भी उसकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं जैसे आधुनिक अध्ययन पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को नैतिकता से अलग करना आदि। इसी कारण डनिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि “यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भकर्ता है उसी प्रकार ठीक है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करने वाला है। परन्तु यह भी ठीक ही है कि मैकियावेली के युग में बीज-रूप में जो विचार उत्पन्न हुए उनका विकास बोदाँ के ही युग में हो पाया। आधुनिकता के सम्बन्ध में दोनों की स्थिति निम्न आधार पर स्पष्ट हो जाती है:-

1. **अध्ययन पद्धति-** मैकियावेली ने धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया और मध्यकालीन इतिहास के माध्यम से अपने परिणामों को पुष्ट करने का प्रयास किया। मगर उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया बल्कि अपनी धारणाओं को पुष्ट करने के लिए इतिहास से विभिन्न प्रमाण खोजने का प्रयास किया: मैकियावेली द्वारा राज्य के सम्बन्ध में अनेक ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया गया जो शासन के संचालन से ही सम्बन्धित थे, वे राज्य के मौलिक सिद्धान्तों की श्रेणी में नहीं आते। बोदाँ ने इस स्थिति में सुधार किया। उसने ऐतिहासिक पद्धति को व्यापक रूप में अपनाया। साथ ही साथ उसने विधि-शास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का भी श्री गणेश किया। परिणामस्वरूप उसकी पद्धति अधिक वैज्ञानिक बन गयी।
2. **प्रभुसत्ता-** मैकियावेली का राज्य तो प्रभुता सम्पन्न है कि वह प्रभुता का स्पष्ट विवेचन नहीं करता। किन्तु बोदाँ ऐसा प्रथम विचारक था जिसने राज्य का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता की धारणा पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। प्रभुसत्ता की परिभाषा द्वारा उसने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक धारणा प्रदान की। जार्ज केटलीन का मत है कि आधुनिक युग में ‘सम्प्रभुता’ (Sovereignty) का प्रयोग सबसे पहले बोदाँ ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में किया। प्रभुता-सम्पन्न शासक के बारे में बतलाते हुए उसने प्रभुसत्ता के तत्वों का भी वर्णन किया है। प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा भी बोदाँ को मैकियावेली से अधिक आधुनिक बना देती है।

3. **राज्य-** मैकियावेली ने राज्य का कोई दर्शन प्रस्तुत नहीं किया, उसने राज्य के मौलिक तत्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। किन्तु बोदाँ ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना का एक विकसित चित्र प्रस्तुत किया। इस प्रकार मध्यकाल के सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को राजनैतिक मानचित्र पर लाने का श्रेय बोदाँ को ही है। इसके साथ ही सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी मौलिक देन है।
4. **नागरिकता-** मैकियावेली नागरिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त नहीं करता। जबकि इस आधुनिक धारणा पर बोदाँ अपने स्पष्ट विचार व्यक्त करते हुए कहता है कि नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभु शक्ति के अधीन है। यह धारणा भी बोदाँ को मैकियावेली की तुलना में अधिक आधुनिक बनाती है।
5. **नैतिकता और राजनीति-** मैकियावेली ने राजनीति का नैतिकता से पृथक्करण किया। उसने राज्य को धर्म और नैतिकता दोनों से ही ऊपर उठाया। यह भी कहा जा सकता है कि उसने नैतिकता की भावना को तो लगभग त्याग ही दिया। बोदाँ ने इस क्षेत्र में अधिक तर्क संगत मार्ग अपनाया। उसने भी राजनीति को धर्म से पृथक् किया मगर धर्म और नैतिकता को व्यक्तियों अथवा राज्य के लिए एक विजातीय वस्तु नहीं बनने दिया। उसने राज्य को धर्म का संरक्षक भी बनाये रखा और धार्मिक सहिष्णुता का आधुनिक विचार भी प्रदान किया। इस प्रकार बोदाँ ने मैकियावेली की अति और त्रुटि में सुधार किया। बोदाँ ने मध्य मार्ग अपनाया जिसमें उसे यह विश्वास था कि यह सच्चाई है।
6. **भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव-** प्लेटो और अरस्तु ने राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को स्वीकार तो किया था परन्तु इस पर विस्तार से विचार नहीं किया। परन्तु इस सन्दर्भ में बोदाँ ने विस्तार से प्रकाश डाला। प्रो0 डनिंग के अनुसार भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का वर्णन सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक है और इसमें बोदाँ मौलिकता का दावा कर सकता है। मैकियावेली ने इस विषय में वर्णन तक नहीं किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बोदाँ ने मैकियावेली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावेली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था। किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावेली के समान मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त न रख सका जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास दिखायी देता है।

अभ्यास प्रश्न

1. बोदाँ का जन्म किस देश में हुआ था?
a. फ्रांस b. ब्रिटेन c. जर्मनी d. भारत
2. बोदाँ अपने विचारों में मध्यकालीन तो नहीं रहा, किन्तु आधुनिक भी नहीं हो पाया। किसका कथन है-
a. लास्की b. सेबाइन c. मैकाइवर d. गार्नर
3. निम्न में से कौन सा ग्रन्थ बोदाँ द्वारा लिखित है-
a. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक b. यूनिवर्स नेचर थियेड्रम
c. हेप्टाप्लोमर्स d. उपरोक्त सभी
4. निम्न में से बोदाँ द्वारा लिखित ग्रन्थ कौन सा है-
a. रेसपॉन्स b. डेमीनोमैनी
c. उपरोक्त दोनों d. उपरोक्त दोनों में कोई नहीं
5. 'सम्प्रभुता' के सिद्धान्त का जनक कौन है-
a. हॉब्स b. मैकियावली c. बोदाँ d. लॉक

13.13 सारांश

निष्कर्ष: हम कह सकते हैं कि यद्यपि बोदाँ का दर्शन भले ही प्रथम श्रेणी की कोई दार्शनिक संरचना नहीं थी किन्तु उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित किया था। बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया। मैकियावली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और उनके विकास को करते समय उसने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावली के समान मध्यकालीन प्रभाव से मुक्त न रख सका, जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास भी दिखाई देता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बोदाँ का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन प्रकृति विधि के सिद्धान्त पर आधारित था।

13.14 शब्दावली

1. **सम्प्रभुता**- सम्प्रभुता राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यही वह कसौटी है जिसके द्वारा राज्य एवं अन्यान्य समुदायों के बीच भेद प्रकट होता है। सम्प्रभुता का तात्पर्य राज्य की उस सर्वोच्च शक्ति से है जो आदेश दे सकती है और उनका पालन करा सकती है। सम्प्रभुता के दो पहलू होते हैं-आंतरिक और बाह्य। आंतरिक रूप से राज्य सर्वोच्च होता है और बाह्य रूप से स्वतंत्र। राज्य के अन्दर निवास

करने वाले प्रत्येक व्यक्ति एवं समुदाय के लिये आवश्यक है कि वह राज्य के आदेशों को शिरोधार्य करें। राज्य अपने से बाहर किसी शक्ति के आश्रित नहीं होता है।

2. **नागरिकता-** व्यक्ति तथा राज्य के बीच वैधिक सम्बन्ध जिसके आधार पर व्यक्ति की राज्य के प्रति निष्ठा होती है तथा राज्य व्यक्ति की रक्षा करता है। इस सम्बन्ध का निर्धारण राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत होता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त होती है।
3. **क्रान्ति-** अंग्रेजी का “रेवोल्यूशन” शब्द लैटिन के “रेवोलूशियो” से बना है जिसका अर्थ है सर्वाधिक प्रत्यावर्तन या नवीकरण। राजनीतिक इतिहास के क्षेत्र में “रेवोल्यूशन” शब्द को बल प्रयोग द्वारा राजनीतिक निर्णय की स्थितियों पर अधिकार करने के लिये और समाज की संरचना में आधारभूत परिवर्तन करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। “विप्लव” और “विद्रोह”, “क्रान्ति” से मिलते जुलते शब्द हैं जिनका तात्पर्य प्रायः असफल क्रान्ति से है।

13.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. b 3. d 4. c 5. c

13.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच० सेबाइन
2. पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग
3. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू० टी० जोन्स
4. पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा० प्रभुदत्त शर्मा
5. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ०पी० गाबा

13.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति-कोश- डा० सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त
2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर०एम० भगत

13.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. बोदाँ के प्रभुसत्ता सिद्धान्त को विकसित कीजिए और उसका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. बोदाँ का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के प्रति योगदानों का उल्लेख करिए।
3. राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक युग के आविर्भाव की सूचना मैकियावली नहीं बल्कि बोदाँ देता है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं।

इकाई-14 : ग्रोशियस

- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 उद्देश्य
- 14.3 ग्रोशियस का जीवन-परिचय
- 14.4 ग्रोशियस की रचनाएँ
 - 14.4.1 ग्रोशियस के कानून सम्बन्धी विचार
 - 14.4.2 अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार
 - 14.4.3 प्रभुता सम्बन्धी विचार
 - 14.4.4 राजनीति विज्ञान में ग्रोशियस की भूमिका
 - 14.4.5 ग्रोशियस की देन और उसका महत्त्व
- 14.5 सारांश
- 14.6 शब्दावली
- 14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 14.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना:

ह्यूगो ग्रीशियस का जन्म 1583 एक उच्चा वर्गीय क्रिश्चियन परिवार हुआ। वह बचपन से प्रतिभाशाली व्यक्ति था। ग्रीशियस ने अपने अनुभव के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण से ही अराजक स्थिति का प्रतिकार किया। ग्रीशियस ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के आधार पर सभी देशों की नीतियाँ होनी चाहिए।

अरस्तू की भाँति ग्रीशियस ने भी मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना है। उसने प्रकृतिक विवेक को तर्क और बुद्धि का परिणाम माना है। प्रकृति के अनुसार यह देखा जाता है कि नैतिक अक्षमता या नैतिक उच्चता के आधार पर प्रकृति का स्वामी किसी कार्य को स्वीकार या अस्वीकार करता है। ग्रीशियस ने सम्प्रभुता के विषय में कहा है कि मैंने परिस्थिति को देखकर यह विचार प्रकट किया कि युद्ध जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। युद्ध पर नियंत्रण तो किया जा सकता है परन्तु पूर्ण रूप से बचा नहीं जा सकता है। ग्रीशियस ने निरंकुश राजा के अधिकार शक्ति का पोषण किया, निरंकुश राजसत्ता को प्रोत्साहित तो किया साथ ही साथ वैध शासन के बारे में भी अपने विचार प्रकट किये। ग्रीशियस का यह भी कहना है कि समाज सामूहिक प्रवृत्ति का परिणाम है, इसी आधार पर उसने सामाजिक समझौते सिद्धान्त का समर्थन किया। मनुष्य इसलिए ईश्वर की आज्ञा से नहीं बल्कि अपनी इच्छा से यह अनुभव किया कि राजनीतिक समाज स्वयं संगठित हुआ है।

14.2 उद्देश्य:

- प्रकृतिक कानून को जान सकेंगे।
- ग्रीशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार जान सकेंगे।
- ग्रीशियस के प्रभुता सम्बन्धी विचार जान सकेंगे।
- ग्रीशियस के कानून तथा प्रभुता सम्बन्धी विचार में क्या तारतम्यता है जान सकेंगे।

14.3 ग्रोशियस का जीवन परिचय (1583-1645)

ग्रोशियस का जन्म 1583 ई0 में हालैण्ड में डेफ्ट नामक नगर में वान गुट परिवार में हुआ। ग्रोशियस के बचपन का नाम ह्यूगो वान ग्रुट(Hugo Van Groot) था। यह ग्रोशियस का क्रिश्चियन नाम था। ग्रोशियस बचपन से ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था। ग्रोशियस बचपन के 8 वर्ष में ही लैटिन भाषा में पद्य की रचना करके लोगों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया। ग्रोशियस 11 वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास कर लिया। ग्रोशियस 16 वर्ष की अवस्था में डॉक्टर आफ लॉ की उपाधि प्राप्त की। 21 वर्ष की अवस्था में एल0एल0डी की उपाधि प्राप्त की। ग्रोशियस अपने आप में बहुत विद्वान व्यक्ति था।

ग्रोशियस ने वकालत का पेशा अपनाया। कुछ समय पश्चात राटरडम का अंगरक्षक नियुक्त किया गया। परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं और वह दो सम्प्रदायों के मध्य फँस गया और ग्रोशियस पर राजद्रोह का आरोप लगाकर आजीवन कारावास की सजा दे दी गई। ग्रोशियस अपनी धर्मपत्नी के वीरता और चतुराई के कारण जेल से भाग निकला।

ग्रोशियस पर परिस्थितियों का प्रभाव:

ग्रोशियस की रचनाओं और उसके राजनीतिक विचार पर वहाँ की तात्कालिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। 1599 ई0 मेरियाना ने अपने ग्रन्थ 'राजत्व एवं राज शिक्षा' की रचना करके समाज में हाहाकार मचा दिया। उसने लिखा की प्रभुसत्ता जनता में निहित है, और जनता निरकुंश शासक की हत्या तक कर सकती है। उस समय के चर्चित गन पाउडर षडयंत्र तथा चतुर्थ हेनरी की हत्या तथा जनसाधारण का व्यवहार इन सबका ग्रोशियस पर बुरा प्रभाव पड़ा। उसने देखा की समस्त वातावरण में चारो तरफ अशान्ति और अराजकता का वातावरण था। प्रत्येक राजा अपनी सीमाओं के विस्तार के लिए छल, बल, द्वेष, कपट आदि तरीके अपनाते थे। युद्धों के बर्बरता की कोई चाह नहीं थी। इसलिए ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा मानववादी दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जिसकी वजह से उसे प्रतिभाशाली विद्वान भी माना जाता है। ग्रोशियस पर तत्कालीन युद्धों और अराजक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पड़ा। उसने देखा कि समस्त यूरोप में अशान्ति और अव्यवस्था फैली हुई है प्रत्येक राज्य अपनी सीमाओं का विस्तार करने अपने व्यापार को बढ़ाने एवं अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए छल, बल के तरीकों का प्रयोग करने को तैयार था। शासक लोग सन्धियाँ करते और तोड़ देते थे। युद्धों में बर्बरता की थाह न थी। ग्रोशियस के जीवनकाल में फ्रांस में गृह युद्ध हुये। हालैण्ड में धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हुये जिनमें से एक के परिणामस्वरूप उसका सुखी जीवन बर्बाद हो गया तथा जर्मनी में 30 वर्षीय युद्ध (1618-1648) चला। ग्रोशियस के चारो ओर एक युद्ध शिविर लगा हुआ था जिसमें सर्वाधिक कठिनाई तटस्थ एवं छोटे राज्यों की थी जो स्वयं को बड़े राष्ट्रों के आक्रमण से बचाने में असमर्थता अनुभव करते थे। उसे भरोसा था की

विभिन्न राष्ट्रों के बीच अंतर्राष्ट्रीय नियमों के निर्धारण से परस्परिक आरजकता से मुक्ति पाई जा सकती है जिसके लिए उसने 'द लॉ ऑफ वार एंड पीस' पुस्तक लिखी।

14.4 ग्रीशियस की रचनाएँ

ग्रीशियस ने विलक्षण प्रतिभा से जिन ग्रन्थों को जन्म दिया वे मुख्यतः कानून से प्रभावित थे जो इस प्रकार हैं।

- 1- डी जूरे प्रेदे De Jure Praedea (1604)
- 2- मेयर लायबेरम Mare Liberum (1609)
- 3- डी जूरे बेली एट पेरिस De iure belli ac pacis ("On the Law of War and Peace) (1625)

प्रथम पुस्तक में ग्रीशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का विवेचन किया है परन्तु इसमें वर्णित सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या और प्रकृति एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पूर्ण विवेचन उसने अपने ग्रन्थ 'डी जूरे बेली एट पेरिस' में किया। जिसके आधार पर ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायशास्त्र के संस्थापक का सम्मान प्राप्त हुआ। अपने ग्रन्थ 'मेयर लायबेरम' में उसने व्यापारिक एवं सामुद्रिक स्वतंत्रता का समर्थन किया।

ग्रीशियस ने राजनीतिक सिद्धान्त के तीन अंग स्थापित किए हैं।

- 1- प्राकृतिक कानून Jus Naturalae of Natural Laws
- 2- अंतर्राष्ट्रीय कानून Jus Gentium or International Law
- 3- निरंकुश संप्रभुता Absolute Sovereignty

14.4.1 ग्रीशियस के प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार:

प्राकृतिक कानून सकारात्मक कानून से भिन्न है। प्राकृतिक कानून अपनी नैतिक प्रमाणिकता के लिए ऐसी किसी सत्ता पर निर्भर नहीं है। प्राकृतिक कानून सकारात्मक कानून को परखने की कसौटी प्रस्तुत करता है। ग्रीशियस ने कहा कि मनुष्य के तर्क और बुद्धि का परिणाम है कि कानून का प्रादुर्भाव हुआ समाज में सत्ता को बनाये रखने के लिए कानून का होना परम आवश्यक है। ग्रीशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था। इसलिए उसने प्राकृतिक कानून का समर्थन किया। ग्रीशियस ने कहा कि प्राकृतिक कानून विवेक की अभिव्यञ्जना है। कई ऐसे राजनीतिक विचारक थे जो प्राकृतिक कानून को ईश्वरीय कानून मानते थे। प्राकृतिक विधि विवेकयुक्त स्वभाव से जुड़ा हुआ है। नैतिकता उच्चता

और नैतिकता निम्नता इसी आधार पर प्रकृति का स्वामी स्वीकार किया जाता है। ग्रोशियस ने अपने विचार ग्रन्थ में लिखा है कि अगर ईश्वर न होता तो तब भी प्राकृतिक विधि का वही असर होता क्योंकि प्रकृति शाश्वत है और वह परिवर्तनशील है। लेकिन बिना प्रकृति के व्यक्ति सामाजिक प्राणी के रूप में जीवन नहीं जी सकता है। ग्रोशियस ने कहा है कि ईश्वरीय नियम से किसी भी दशा में प्राकृतिक नियमहीन नहीं होती है।

ग्रोशियस के शब्दों में “जिस प्रकार यह ईश्वर नहीं कह सकता है कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर यह नहीं कह सकता है कि जो चीज गलत है उसे गलत न कहे।”

ग्रोशियस ने कहा है कि प्राकृतिक विधियों में ईश्वर परिवर्तन नहीं कर सकता है। क्योंकि प्राकृतिक विधियाँ अपरिवर्तनशील होती हैं। ग्रोशियस ने कहा कि जब कई राज्यों के सकारात्मक कानून आपस में टकराते हैं तो तब प्राकृतिक कानून का शरण लेकर उचित अनुचित का निर्णय किया जा सकता है। वास्तव में ग्रोशियस द्वारा स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक संबंधों को विनियमित करने के लिए प्राकृतिक कानून को जो एक नवीन एवं धर्मनिरपेक्ष मापदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है उसका बड़ा महत्व है। ग्रोशियस के समय की आराजकतापूर्ण स्थिति का अन्त करने के लिए प्राकृतिक कानून की इस धारणा ने इसमें महान योगदान दिया। प्राकृतिक विधि ने ही आगे चलकर राज्यों की सकारात्मक विधि को जन्म दिया।

ग्रोशियस ने कहा कि प्राकृतिक कानून विश्वव्यापी है। ग्रोशियस ने प्राकृतिक नियमों को समझने के लिए तीन नियम बताये हैं।

- 1- प्राकृतिक नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा दूसरो को विदित होते हैं।
- 2- बड़े-बड़े विद्वानों के मस्तिष्कों के विचार सामान्य समझौते के द्वारा लोगों के समक्ष आते हैं।
- 3- श्रेष्ठ पुरुषों के कार्य प्रकृति के नियमों का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिकरण कर सकते हैं।

विधियों का वर्गीकरण:

ग्रोशियस ने दो प्रकार के प्राकृतिक कानून का जिक्र किया है।

- (क) राजनीतिक समाज से पूर्व प्रकृति की आदिम दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून एवं
(ख) समाज के निर्माण के बाद एवं राजनीतिक कानून बनने से पहले के प्राकृतिक कानून
- कानून दो प्रकार के होते हैं-

- 1- प्राकृतिक कानून
- 2- इच्छा मूलक कानून

प्राकृतिक कानून:- प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित है।

ईच्छामूलक कानून:- ईच्छा पर आधारित होता है।

ग्रोशियस के अनुसार कानून का वर्गीकरण:

कानून का वर्गीकरण:	
प्राकृतिक कानून (Jus Naturalae)	स्वेच्छित या इच्छामूलक कानून
	1.ईश्वरीय या दैवीय इच्छामूलक कानून(Jus Divinum law)
	2.राजकीय कानून(Jus Civile)
	3.अन्तर्राष्ट्रीय कानून(Jus Gentium)

14.4.2 ग्रोशियस का अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार:

ग्रोशियस ने अपनी प्रमुख पुस्तक "The Law of War and Peace" में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्णन किया। एक देश से दूसरे देश से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए जिस तरह नियम कानून और व्यवहार किया जाता है। उसका जिक्र किया गया है। एक सभ्य राष्ट्र के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाता है। और उसका प्रमुख उद्देश्य मानव की मूल इच्छा है।

डॉनिंग ने लिखा है कि, "समस्त राष्ट्रों के व्यवहार ने इस बात को स्वीकार किया है कि समस्त राष्ट्रों के व्यवहार में इस बात को स्वीकार किया कि यह बात को माना जाय जो सत्य साक्ष्य के द्वारा प्रमाणित हो तथा इस सामग्री में उन बातों को सम्मिलित किया जाए जो निरन्तर प्रयोग तथा विद्वानों के द्वारा प्रमाणित किए गये हो। ऐसा उद्देश्य हो जो समस्त राष्ट्रों के कल्याण के लिए हो।

ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इच्छा मूलक कानून माना है। ग्रोशियस का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने का ध्येय मेरा यह है कि यूरोप के तत्कालीन नवोदित राज्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निरूपण करना था। जो धार्मिक अधिकार क्षेत्र पर आश्रित न हो तथा बल्कि न्याय निर्णय पर तथा सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो तथा उन्हीं पर आधारित हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में निरन्तर चली आने वाली प्रमाणित प्रथाओं से नियम और कानून पुष्ट हो, विद्वानों के साक्ष्य से प्रमाणित होने वाले नियम बनाये जाए जो सभी समाज तथा सभी राष्ट्र के लिए कल्याण कामना के भाव होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कानून समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहना चाहिए। प्राकृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण सामाजिक आधार और सामाजिक जीवन को ध्यान

में रखकर बनाना चाहिए। जिससे एक देश का दूसरे देश से व्यवहारों का सुचारु रूप से नियमन किया जा सके। प्राकृतिक कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आधारशिला है। मानव समाज तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक दूसरे के आधार है। प्राकृतिक कानून का उल्लंघन तो नहीं किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन किया जा सकता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन पर राष्ट्र को भारी नुकसान होता है। और उस राष्ट्र की छवि विश्व पटल पर खराब हो जाती है। और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करने वाला राष्ट्र कुख्यात होकर दूसरे राष्ट्रों का विश्वास खो बैठेगा। मनुष्य के अधिकारों की रक्षा के लिए मानवीय आधार पर किसी कुख्यात राष्ट्र का हस्तक्षेप करना परम आवश्यक है।

ग्रोशियस ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बन्धी विचार में यह भी बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के सम्बन्ध में न्याय, युद्ध के लक्षण कारण एवं युद्ध संचालन के तथा जन-धन पर युद्ध के प्रभाव प्रसार के अधिकार उन्नत जातियों तथा अन्य जातियों के साथ सम्बन्ध पर दासत्व पर विचार प्रकट किया गया। ग्रोशियस ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए 'जस जेन्टियम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग उन नियमों और कानूनों के लिए किया जाता है। जो रोमन लोगों और विदेशियों पर भी सरल तरीके से लागू किए जाते हैं। ग्रोशियस ने जेन्टियम का अर्थ रीतियों और परम्पराओं से लिया जाता है। 16वीं शताब्दी में सुआरेज और जेन्टाइल जैसे लेखकों के प्रभाव में इस शब्द का प्रभाव और रीति रिवाज और परम्पराओं से लिया जाने लगा है। जिससे सभी देशों के प्रति आचरण का विनिमय किया जाता है। ग्रोशियस ने जबसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जिक्र किया तब से अन्तर्राष्ट्रीय कानून में चार चाँद लग गया।

मैक्सी के शब्दों में, "ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक कहा जाने लगा।"

14.4.3 ग्रोशियस के प्रभुता सम्बन्धी विचार:

ग्रोशियस को प्रारम्भ में सम्प्रभुता से कोई लगाव नहीं था। लेकिन ग्रोशियस के समय हालैण्ड की स्थिति अच्छी नहीं थी। ग्रोशियस उस बुरी स्थिति से प्रभावित होकर इस विषय पर अपने विचार दिये। क्योंकि उस समय हालैण्ड में युद्ध जैसी स्थिति थी। ग्रोशियस ने कहा है कि युद्ध जीवन के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। जिस पर नियंत्रण लगाया जाता है। किन्तु उसमें सदैव बचा नहीं जा सकता है। युद्ध को किसी भी तरह से प्राकृतिक कानून के आधार पर उचित एवं न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य जीवन की रक्षा करना होता है। ग्रोशियस ने कहा कि युद्ध में शक्ति का प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक कानून के साथ-साथ प्रभुता सम्बन्धी विचारों का मेल भी स्पष्ट होता है। क्योंकि प्रकृति ने सभी प्राणियों को आत्मरक्षा एवं स्वयं सहायता के लिए आत्मरक्षा की पर्याप्त शक्ति प्रदान की। सद्विवेक और समाज का स्वभाव शक्ति के समस्त प्रयोग का निषेध नहीं करते हैं। बल्कि शक्ति प्रयोग से इन्कार भी करते हैं। जो समाज के प्रतिकूल है।

ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को राज्य का शासन करने वाली सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति बतलाया। उसने कहा कि-“प्रभुत्व शक्ति उसमें ही निहित है जिसके कार्यों पर न तो किसी दूसरी सत्ता का नियंत्रण है और न ही जिसकी इच्छा का कोई और ही विरोध कर सके। राज्य में शासन करने की यह नैतिक क्षमता है।”

ग्रोशियस जनता की प्रभुता का घोर विरोधी है। जनता एक बार स्वेच्छा से अपनी शासन प्रणाली चुनने की अधिकारिणी है पर बाद में शासक पर उनका कोई नियंत्रण नहीं रहता तब जनता पूर्णरूप से अपने संप्रभु के अधीन हो जाती है और प्रभुता को संप्रभु से वापस नहीं लिया जा सकता, फिर जनता शासन सत्ता के विरुद्ध कोई विद्रोह नहीं कर सकती। ग्रोशियस प्रभुसत्ता और जनता के हितों के बीच कोई पारस्परिक संबंध में नहीं मानता। संप्रभु की इच्छा सर्वोच्च है। यदि संप्रभु अपनी प्रजा को राजनीतिक स्वतंत्रता से वंचित भी कर देता है तो भी उसके विरुद्ध कोई विद्रोह अनुचित है। शासक को प्रभुसत्ता हस्तान्तरित करने के बाद प्रजा स्थायी रूप से उसकी वशीभूत हो जाती है। राजा के लिए आवश्यक नहीं है कि वह प्रजाहित की दृष्टि से ही शासन करें। उसे प्रजा पर वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसा कि व्यक्ति का अपनी निजी सम्पत्ति पर होता है।

ग्रोशियस के इस सिद्धान्त से स्पष्ट ही राजा का निरंकुश अधिकार शक्ति का पोषण होता है। उसका मन्तव्य यही है कि प्रजा को राजा का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं है उसे राजा के अत्याचारों को मौन होकर सह लेना चाहिए। यदि राजा के आदेश ईश्वरीय अथवा प्रकृतिक नियमों को भंग करने वालों हो तो प्रजा को इन आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए, पर साथ ही विद्रोह भी नहीं करना चाहिए। इस स्थिति में प्रजा का कर्तव्य यही है कि वह आज्ञा भंग के दुष्परिणामों को चुपचाप सह ले। ग्रोशियस राजा को मानवीय इच्छाओं एवं राजकीय कानूनों से सर्वदा स्वतंत्र एवं मुक्त मानता है व राजा पर प्रकृतिक कानून, ईश्वरीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ ही स्वीकार करता है उसके अनुसार इस कानून की व्यवस्था का पालन होना चाहिए।

इस बात का निर्णय कैसे हो कि शक्ति समाज के अनुकूल है कि नहीं। राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार किसे दिया जाए। ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित किया। ग्रोशियस ने यह भी कहा कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तभी न्यायोचित और विधि सम्मत होगा। जब उसका निर्णय करने वाला व्यक्ति और निकाय स्वयं प्रभुता से सम्पन्न हो। वह स्वयं युद्ध के नियमों का पालन और दायित्व को संभाल ले। प्रभुसत्ता केवल राष्ट्र राज्य की विशेषता नहीं है। ग्रोशियस के अनुसार राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राज्य की प्रभुसत्ता को अपनी स्वतन्त्र इच्छा और तर्कबुद्धि पर आधारित मानते हुए स्वीकार करता है। उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून में केवल प्रकृतिक कानून और प्रकृतिक तर्कबुद्धि पर आधारित होना चाहिए।

14.4.4 राजनीति विज्ञान में ग्रीशियस की भूमिका:

राजनीति विज्ञान में ग्रीशियस ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, ग्रीशियस ने अपने रचनाओं के माध्यम से मनुष्य के विवेकशील प्रकृति के विस्तृत निरूपण का प्रयत्न किया। ग्रीशियस ने अपनी रचनाओं के माध्यम से विचार परम्परा नैतिक दर्शन को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंचाया। ग्रीशियस ने प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा प्रभुसत्ता जैसे कानून को प्राकृतिक कानून तर्क बुद्धि पर जोड़ दिया। इसलिए कुछ विद्वान ग्रीशियस को प्राकृतिक कानून का अग्रदूत कहा। ग्रीशियस ने न्यायोचितता के आधार पर ही सम्पत्ति के अधिकार को भी समाहित किया।

ग्रीशियस की पुस्तक "Law of war and Peace" पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था। वह उसे सुधार युग तथा पुनर्जागरण से संसार के अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। ग्रीशियस का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त हाब्स के अग्रगामी सिद्ध हुआ। जिनके आधार पर लेवियाथन का ढांचा निर्मित हुआ। ग्रीशियस ऐसा पहला राजनीतिक विचारक था। जिसने राज्य के उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली।

14.4.5 ग्रीशियस की देन और उसका महत्व:

ग्रीशियस की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिपादन करके राज्यों को एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्तव्यों एवं सम्बन्धों पर समुचित प्रभाव डालना है। इसीलिए उसे 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक' कहा जाता है परन्तु इस क्षेत्र में उसकी मौलिक देन नहीं है। उसका ग्रन्थ 'लॉ ऑफ वार एण्ड पीस' पुरानी पीढ़ियों की बुद्धि का सार था और वह उसे पुनर्जागरण एवं सुधार युग से संसार की अभूतपूर्व स्थितियों पर लागू करता था। वास्तव में ग्रीशियस का महत्व इस बात में है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक नवीन व्यवस्था प्रदान की। वह इस क्षेत्र में स्पष्टता और निश्चितता लाया। डनिंग के अनुसार, "राजनीति विज्ञान को ग्रीशियस की महानतम निश्चित देन यह है कि उसने अधिकारों और कर्तव्यों की एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जिसे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था।" ग्रीशियस के सम्प्रभुता संबंधी विचार हाब्स के अग्रगामी सिद्ध हुये। जिनके आधार पर उसने लेवियाथन का ढांचा निर्मित किया। ग्रीशियस ने सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की नींव डाली।

- 1- .अभ्यास प्रश्न ग्रीशियस की पुस्तक का क्या नाम है?
(i) Mare Liberum (ii) Sourity (iii) Devirty (iv) Majority of Life
- 2- ग्रीशियस की प्रसिद्ध पुस्तक का क्या नाम है?
(i) Tolration of Kind (ii) Sourd of Nation

- (iii) The Law of war and peace (iv) Jus Juntium
- 3- ग्रोशियस ने कानून को कितने भागों में विभाजित किया?
 (i) 4 (ii) 2
 (iii) 1 (iv) 6
- 4- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए ग्रोशियस ने किस शब्द का प्रयोग किया?
 (i) Jus Jentium (ii) Law Juntim
 (iii) Jus Civile (iv) Pure Juntium
- 5- ग्रोशियस राज्य के उत्पत्ति में किस विचार की नींव डाली?
 i. दैवीय सिद्धान्त ii. ऐतिहासिक सिद्धान्त
 iii. विकासात्मक iv. सामाजिक अनुबन्ध

14.5 सारांशः

अरस्तू की भांति ग्रोशियस ने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना और समाज की सत्ता बनाये रखने के लिए अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। साथ ही उसने मानव को तर्कशील बुद्धिमान प्राणी मानते हुये मानव समाज को मानव बुद्धि की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति बतलाया तथा यह तर्क पेश किया कि जब समाज तर्क और बुद्धि का परिणाम है तो संभवतः कानून भी बुद्धि से ही प्रतिभूत होते हैं। जहाँ भी सामाजिक जीवन है वहाँ बुद्धि पर आधारित कानून का होना स्वाभाविक है क्योंकि ग्रोशियस एक चिन्तनशील व्यक्ति था अतः उसने अपने चिन्तन में प्रकृतिक कानूनों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया।

ग्रोशियस का सबसे महत्वपूर्ण योगदान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिवादन में है। इसलिए ग्रोशियस को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जनक माना जाता है। ग्रोशियस की पुस्तक Law of war and Peace में उसने बुद्धि का सार पीढ़ियों से जुड़ा हुआ है। इसलिए वह सुधार के युग में संसार के अभूतपूर्व पहलुओं से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक की ग्रोशियस ने राजा को कानूनों तथा नियमों से मुक्त माना है। वही दूसरी तरफ उसने यह भी कहा कि राजा प्रकृतिक कानून ईश्वरीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सीमाएँ भी है। ग्रोशियस के नियम साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण से जुड़ा हुआ है। विद्वानों के मस्तिष्क के विचार सामान्य समझौता लोगों के समक्ष है। तथा नियमों के व्यक्तिकरण को किया जा सकता है। मानव अधिकारों के रक्षा के लिए मानवीय आधार पर राज्यों का हस्तक्षेप परम आवश्यक है। वही पर ग्रोशियस ने प्रकृतिक विधि को अपरिवर्तनशील बताया। उसने यह भी कहा है कि भगवान कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, प्रकृतिक नियम से ईश्वरीय नियम को कमतर आका जाता है।

प्रकृतिक नियम तथा ईश्वरीय नियंत्रण से अधिक विवेक सम्मत है। इस विचार को ग्रोशियस ने सर टामस एक्वीनास से ग्रहण किया है।

14.6 शब्दावली:

विधि-	कानून
इच्छामूलक-	इच्छा पर आधारित
कामाना-इच्छा	
पृथक-	अलग

14.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. i ,2. iii , 3. i , 4. ii , 5. iv.

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- 1- डॉ० गणेश प्रसाद, पश्चात राजनीतिक विचारक, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद
- 2- प्रो० ए०वी० लाल, पश्चात राजनीतिक विचारों का इतिहास, कालेज बुक डिपो जयपुर, 2014
- 3- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- डॉ० प्रभुदत्त शर्मा
- 4- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास- ओ०पी० गावा
- 5- पाश्चात्य राजनीतिक विचार- सुषमा गर्ग

14.9 सहायक सामग्री:

- 1 पाश्चात्य राजनीतिक विचार- प्रो०ए०वी० लाल
- 2 पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन- ओ०पी० गावा
- 3 मध्यकालीन विचारक- रघुवीर सिंह

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न:

- 1- ग्रीसियस के प्रभुता सम्बन्धी विचार की विवेचना कीजिए।
- 2- ग्रीसियस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक क्यों कहा जाता है?
- 3- ग्रीसियस के मानवीय दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
- 4- ग्रीसियस ने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की विवेचना किस प्रकार किया है।

